सन्त कबीर

डॉ. एन. पी. कुट्टन पिल्लै

प्रकाशक

श्री प्रकाशन

190, स्टेट बैंक कालोनी

ताडला बस्ती, सिकन्दराबाद–500 003

सन्त कबीर

डॉ. एन. पी. कुट्टन पिल्लै

प्रकाशक

श्री प्रकाशन

190, स्टेट बैंक कालोनी

ताडला बस्ती, सिकन्दराबाद–500 003

मूल्य : 12–50

प्रथम संस्करण : मार्च 1977

प्रतियाँ : 1000

मुद्रक

रंगनाथ प्रेस

हैदराबाद–500 001

SANT KABIR

By Dr. N. P. Kuttan Pillai

Price Rs. 12-50

भूमिका

हिन्दी साहित्य में निर्गुणधारा विशेष महत्व रखती है। ज्ञानमार्गी शाखा हो अथवा प्रेममार्गी शाखा, दोनों का साहित्य केवल परिमाण और गुण के कारण ही नहीं मौलिकता की दृष्टि से भी विशेष गौरवशाली है। जहाँ तक सगुण भक्ति से संबंधित साहित्य का प्रश्न है, भारत की अन्य भाषाएँ भी समृद्ध हैं, किन्तु निर्गुण कविता इतनी अधिक मात्रा में केवल हिन्दी साहित्य की ही निधि है।

निर्गुणधारा में कबीर विशेष महत्व रखते हैं। अब तक हिन्दी के अनेक विचारकों और मनीषियों का ध्यान उनकी कृतियों ने आकर्षित किया है। उनके काव्य का क्षितिज बहुत विस्तृत है। कबीर भाषा की दृष्टि से बहुत स्पष्ट और सरल कवि हैं, किन्तु भाव की दृष्टि से अत्यधिक गांभीर्य और ज्ञान से परिपूर्ण हैं। इसलिए जितनी भी व्याख्याएँ हुई हैं, कबीर को समझने में उनसे सहायता मिली है। किन्तु ऐसे अनेक क्षेत्र हैं जहाँ वे अपरिचित-से लगते हैं।

कबीर केवल कवि होते तो उनके कला और भाव पक्षों को समझने में कठिनाई नहीं होती। कबीर यदि केवल विचारक और चिन्तक होते तब भी उनके भाव सायास ही क्यों न हो, समझ में आ जाते थे। कबीर कवि और चिन्तक एक साथ हैं। उन्हें पृथक् रूपों में व्याख्यायित करने का प्रयत्न हुआ है, इसीलिए वे समग्र रूप से बुद्धिगम्य अथवा भावगम्य नहीं बन सके। भविष्य के अनेक विचारकों और भाव-मर्मज्ञों के लिए कबीर प्रचुर सामग्री प्रस्तुत करते रहेंगे।

डॉ० कुट्टन पिल्लै द्वारा संपादित इस संकलन का महत्व इस दृष्टि से है कि इसमें पाठक को सहायता प्रदान की गयी है। इस संकलन का उद्देश्य है विद्यार्थी या सामान्य पाठक को कबीर-साहित्य की भावराशि की ओर प्रेरित करना और इस बात का अवसर देना कि वह स्वयं अपनी ओर से इसे आत्मसात कर सके। इसीलिए संकलन में दिये गये पदों-साखियों की पूरी व्याख्या नहीं है।

संकलन के उत्तरार्द्ध में उन कठिन स्थलों को स्पष्ट किया गया है, जिनके हृदयंगम करने से न केवल कबीर को समझा जा सकता है, अपितु उत्तर भारत की सुदीर्घ संत-परंपरा के रहस्य को भी आत्मसात किया जा सकता है।

—डॉ० श्रीराम शर्मा

हिन्दी विभाग,
उस्मानिया विश्वविद्यालय
हैदराबाद.
१०–३–१९७५.

दो शब्द

हिन्दी के मध्यकालीन संत-कवियों में महात्मा कबीर का महत्वपूर्ण स्थान है। वे युगद्रष्टा महापुरुष थे जिन्होंने तत्कालीन भारतीय समाज में प्रचलित अंधपरंपराओं, रूढ़ियों के प्रति अपना आक्रोश प्रकट किया तथा हिन्दुओं और मुसलमानों को अपना पारस्परिक वैमनस्य त्याग कर सद्‌भावना के साथ जीवन-निर्वाह का सहज मार्ग सुझा दिया। उनका दृष्टिकोण मानवतावादी था और उनकी कविता इस मानवतावादी दृष्टिकोण को प्रचारित करने का साधन थी। एक समाज-द्रष्टा, सुधारक, साधक एवं चिन्तक के रूप में उन्होंने सामान्य जनता पर अपना अमिट प्रभाव डाला।

आज कबीर साहित्य के अध्ययन की ओर लोगों की विशेष अभिरुचि दिखाई दे रही है। भारत के विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में कबीर साहित्य स्थान प्राप्त कर चुका है। विभिन्न विश्वविद्यालयों की एम. ए कक्षा के पाठ्यक्रम में कबीर ग्रंथावली निर्धारित है। क्लिष्ट भाषा एवं दुरूह शैली के कारण कबीर की भावराशि को हृदयंगम करना कष्टसाध्य है। इस कठिनाई से प्रेरित होकर कबीर ग्रंथावली के प्रथम २१० दोहों तथा ५० पदों के अतिरिक्त ५० चुने हुए दोहों को सविस्तार पाद-टिप्पणियों के साथ इस पुस्तक में प्रस्तुत किया गया है। अंतिम ५० दोहे ऐसे चुने गये हैं जो कबीर की किसी न किसी विचारधारा के प्रतिनिधि हों।

अंत में विद्यार्थियों के लाभार्थ आलोचना-भाग में कबीर साहित्य के विविध पक्षों का विश्लेषण किया गया है और कबीर साहित्य संबंधी भ्रान्तियों का यथासंभव निराकरण करने का भी प्रयत्न हुआ है। इस प्रकार प्रस्तुत पुस्तक कबीर साहित्य के विद्यार्थियों तथा अध्येताओं के लिए उपयोगी सिद्ध होगी, ऐसी आशा है।

इस प्रसंग में हिन्दी के मौन साधक एवं वरिष्ठ साहित्यकार अपने आचार्य श्रद्धेय डॉ० श्रीराम शर्मा, एम. ए, पी-एच. डी; डी. लिट् का अनुस्मरण करता

हैं, जिनके स्नेह-आशीर्वाद मेरे प्रत्येक साहित्यिक प्रयास के लिए प्रेरणादायक हैं। इसके अतिरिक्त अपने व्यस्त साहित्यिक जीवन से समय निकालकर अपनी भूमिका के द्वारा इस पुस्तक की शोभा बढ़ाने की आचार्य जी ने जो सद्भावना दिखाई है, तदर्थ मैं उनका हृदय से आभारी हूँ।

पुस्तक के शीघ्र प्रकाशन में रंगनाथ प्रेस के अधिकारी श्री जॉन रोस तथा कम्पोजिंग विभाग के प्रमुख श्री रुद्रदत्त मिश्र का भव्य सहयोग रहा, अतः दोनों के प्रति मैं अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

डॉ. एन. पी. कुट्टन पिल्लै

५–१–५८२, तुरुप बाजार,
हैदराबाद—५०००० १

विषय क्रम

साखी-भाग

१. गुरुदेव कौ अंग

हिन्दी का मध्यकाल भक्ति काल की संज्ञा से अभिहित होता है, क्योंकि इस समय भक्ति की सुरसरिता ही प्रवाहित हुई। भक्ति कालीन उपासना संप्रदायों में गुरु की बड़ी महत्ता सिद्ध की गयी है। गुरु ही साधक का ज्ञानचक्षु खोलकर उसे भगवान की ओर उन्मुख कर देता है। यही कारण है कि निर्गुण भक्तों ने एककंठ होकर गुरु की महिमा गायी है। महाकवि तुलसी ने गुरु की वंदना करते हुए बताया है—

बन्दौं गुरु पद कंज, कृपासिंधु नर रूप हरि।
महामोह तम पुंज, जासु बचन रविकर निकर॥

जायसी ने भी गुरु को पथ-प्रदर्शक घोषित किया है। भक्त प्रवर सूर की स्वीकृति है कि गुरु और प्रभु में कोई अन्तर ही नहीं है। अतः गुरु की महिमा अनंत है।

संत-परंपरा में गुरु का विशिष्ट स्थान स्वीकृत है। कबीर ने गुरु की प्रशंसा में अनेक साखियाँ लिखी हैं। उन्होंने गुरु को गोविन्द से बढ़कर सिद्ध किया क्योंकि प्रभु भगवान अपने दास को सांसारिक वैभव मात्र देकर प्रसन्न करता है, जबकि गुरु भगवान को दिखा देता है। सच्चा गुरु पाना कठिन है। उसकी अनंत महिमा है, वह शिष्य को ज्ञान प्रबोध देकर उसके अज्ञानांधकार को मिटा देता है और प्रज्ञाचक्षु खोल देता है। इस प्रकार वह शिष्य को मानव से देवता बना देता है। वह सच्चा सूरमा है, जो उपदेश रूपी बाण चलाकर शिष्य की अन्तरात्मा को बेध डालता है, जिससे उसकी अहं भावना नष्ट हो वह ईश्वरोन्मुख हो जाता है। उसके उपदेश में इतनी मोहनी शक्ति है कि शिष्य की इंद्रियाँ बाह्य जगत से विरत हो आध्यात्मिक पथ पर केन्द्रित हो जाती हैं। इस कलियुग में गुरु ही शिष्य का रक्षक एवं मार्गदर्शक है। किन्तु इस सच्चे गुरु को प्राप्त करना सुगम नहीं है, विरले ही मनुष्य भगवान की कृपा से सच्चे गुरु को पहचान पाते हैं, दूसरे सब यति के वेष में भटककर मनुष्य को भ्रमित करने वाले ढोंगी गुरु हैं, जो स्वयं अंधे होकर अंधे को संसार रूपी कुए

में फेंक रहे हैं। कबीर का यह स्पष्ट मत है कि केवल सच्चे गुरु की प्राप्ति से कोई शिष्य आध्यात्मिक पथ का पथिक नहीं बन सकता, उसके लिए शिष्य का योग्य होना भी आवश्यक है। अगर शिष्य में यह योग्यता नहीं रही तो समर्थ गुरु भी बेचारा क्या कर सकता है? हां भगवत्-प्रसाद से सच्चे गुरु के सदुपदेश को ग्रहण कर तथा इन्द्रियों को अन्तर्मुखी बनाकर योग साधना के द्वारा सुप्त कुण्डलिनी को जगाकर शरीरस्थ षड् चक्रों का भेदन कर उसे ब्रह्मरंध्र तक पहुँचा सके तो मनुष्य अमृत का पान करके आध्यात्मिक आनंद का भोक्ता बन सकता है।

सतगुरु सवाँन को सगा, सोधी सईं न दाति।
हरिजी सवाँन को हितू, हरिजन सईं न जाति॥ १॥

बलिहारी गुर आपणैं, द्यौं हाड़ी कै बार।
जिनि मानुष तैं देवता, करत न लागी बार॥ २॥

सतगुरु की महिमा अनंत, अनँत किया उपगार।
लोचन अनँत उघाड़िया, अनंत दिखावणहार॥ ३॥

राम नाम कै पटंतरै, देबे कौं कछु नांहि।
क्या ले गुर संतोषिए, हौंस रही मन मांहि॥ ४॥

सतगुरु के सदकै करूँ, दिल अपणीं का साछ।
कलियुग हम स्यूँ लड़ि पड्या, मुहकम मेरा बाछ॥ ५॥

---

१. सवाँन—समान, सोधी—प्रभु का अन्वेषक (साधु), सईं—समान, दाति—दाता, हितू—हितैषी। अलंकार: अनन्वयोपमा, यमक।

२. आपणैं—अपना; हाड़ी—हड्डी युक्त शरीर; करत न लागी बार—करते देर नहीं लगती।

३. उपगार—उपकार; लोचन अनंत उघाड़िया—प्रज्ञाचक्षु खोल दिया, अनँत—अन्तहीन, अनंत दिखावणहार—अनन्त ब्रह्म को दर्शाने वाला। अलंकार: यमक।

४. पटंतरै—बदले में, देबे को—देने के लिए, संतोषिए—प्रसन्न करूँ, हौंस—अभिलाषा, मन मांहि—मन में।

५. सदकै—न्योछावर, साछ-साक्षी, स्यूँ—से, मुहकम—गुरुवर, बाछ—बचानेवाला (रक्षक)। अलंकार: वृत्यनुप्रास।

सतगुरु लई कमाँण करि, बाँहण लागा तीर।
एक जु बाह्या प्रीति सूँ, भीतरि रह्या शरीर॥ ६॥

सतगुर साँचा सूरिवाँ, सबद जु बाह्या एक।
लागत ही मैं मिलि गया, पड़या कलेजै छेक॥ ७॥

सतगुर मारया बाण भरि, धरि करि सूधि मूठि।
अंगि उघाड़ै लागिया, गई दवा सूँ फूँटि॥ ८॥

हँसै न बोलै उनमनीं, चंचल मेल्ह्या मारि।
कहै कबीर भीतरि भिद्या, सतगुर कै हथियारी॥ ९॥

गूँगा हुआ बावला, बहरा हुआ कान।
पाऊँ थे पंगुल भया, सतगुर मार्या बाण॥ १०॥

पीछैं लागा जाइ था, लोक बेद के साथि।
आगैं थैं सतगुर मिल्या, दीपक दीया हाथि॥ ११॥

---

६. लई कमाण करि — हाथ में धनुष लेकर, बांहण लागा—वर्षा करने लगा, बाह्या—बाण चलाया, भीतरि—हृदय में। अलंकार : रूपकातिशयोक्ति।

७. साँचा सूरिवाँ—सच्चा सूरमा, बाह्या—मारा, मैं—अहं की भावना, छेक— छेद। अलंकार : साँगरूपक।

८. मारया बाण भरि— जोर से बाण चलाया, धरि करि सूधि मूठि— मूठ को लक्ष्य स्थान की ओर सीधी करके, अंगि उघाड़े—शरीर की माया रूपी अंगिया फाड़ दी, गई दवा सूँ फूँटि—दावाग्नि के समान फूट पडी। अलंकार : उपमा से पुष्ट साँगरूपक।

९. उनमनीं—हठयोग की पाँच मुद्राओं में से एक, जिसमें दृष्टि को नासाग्र पर केन्द्रित करते हैं तथा भौंहों को ऊपर चढाते हैं। मेल्ह्या—मिला दिया (मिटा दिया), भिद्या—बेध दिया। अलंकार : वृत्यनुप्रास।

१०. बावला—पागल (यहाँ बकवास करनेवाले से तात्पर्य है), पाऊँ थे— पैरों से, पंगुल – पंगु, भया— हुआ। अलंकार : रूपकातिशयोक्ति।

११. पीछैं लागा जाइ था—पीछा कर रहा था (अंधपरंपरा का अनुसरण करता जा रहा था), अगैं थैं सामने से, दीपक—ज्ञान रूपी दीपक। अलंकार : रूपकातिशयोक्ति।

दीपक दीया तेल भरि, बाती दई अघट्ट ।
पूरा किया बिसाहुणाँ, बहुरि न आवैं हट्ट ।। १२ ।।

ग्यान प्रकास्या गुर मिल्या, सो जिनि बीसरि जाइ ।
जब गोबिंद कृपा करी, तब गुर मिलिया आइ ।। १३ ।।

कबीर गुर गरवा मिल्या, रलि गया आटैं लूँण ।
जाति पाँति कुल सब मिटे, नाँव धरौगे कौंण ।। १४ ।।

जाका गुर भी अन्धला, चेला खरा निरंध ।
अन्धै अन्धा ठेलिया, दून्यूँ कूप पड़ंत ।। १५ ।।

नाँ गुर मिल्या न सिष भया, लालच खेल्या डाव ।
दून्यूँ बूड़े धार मैं, चढ़ि पाथर की नाव ।। १६ ।।

चौंसठि दीवा जोइ करि, चौदह चन्दा मांहि ।
तिहिं धरि किसकौ चानिणौं, जिहि घरि गोबिन्द नांहि ।। १७ ।।

---

१२. दीपक—ज्ञान ज्योति का दीपक, तेल—स्नेह रूपी तेल, बाती—ज्ञानवर्तिका, अघट्ट—कभी न घटनेवाला, बिसाहुणां—विनिमय, बहुरि दुबारा, हट्ट—संसार रूपी हाट । अलंकार : रूपकातिशयोक्ति ।

१३. प्रकास्या—प्रकाशित हुआ, जिनि—मत, बीसरि जाइ—छोड़ दो, गोबिंद—भगवान ।

१४. गरवा—गौरवशाली, लूंण—लवण (नमक), नाँव—नाम, कौंण—कौनसा ।

१५. जाका—जिसका, अंधला - अंधा, खरा—बिलकुल, निरंध—बिलकुल अंधा, ठेलिया —धक्का देकर, दून्यूं— दोनों, कूप—कुआ । अलंकार : वृत्यनुप्रास, लोकोक्ति ।

१६. सिष—शिष्य, बूड़े—डूबे, धार—संसार-सागर की धारा में, पाथर—पत्थर (अज्ञान) । अंलकार : रूपकातिशयोक्ति ।

१७. जोइ करि—जलाकर, चानिणौं—चाहूँगा, जिहि घरि—जिस घर में ।

निस अँधियारी कारणैं, चौरासी लख चन्द ।
अति आतुर ऊदै किया, तऊ दिष्टि नहिं मन्द ॥ १८ ॥

भली भई जु गुर मिल्या, नही तर होती हांणि ।
दीपक दिष्टि पतंग ज्यूं, पड़ता पूरी जांणि ॥ १९ ॥

माया दीपक नर पतंग, भ्रमि भ्रमि इवैं पड़त ।
कहै कबीर गुर ग्यान थैं, एक आध उबरंत ॥ २० ॥

सतगुरु बपुरा क्या करै, जे सिषही मांहै चूक ।
भावै त्यूं प्रमोधि ले, ज्यूं बँसि बजाई फूक ॥ २१ ॥

संसै खाया सकल जुग, संसा किनहुँ न खद्ध ।
जे बेधे गुर आष्पिरां, तिन संसा चुणि चुणि खद्ध ॥ २२ ॥

चेतनि चौकी बैसि करि, सतगुर दीन्हाँ धीर ।
निरभै होइ निसंक भजि, केवल कहै कबीर ॥ २३ ॥

---

१८. निस अंधियारी—अज्ञान रूपी रात्रि का अंधकार, कारणैं— कारण से, चौरासी लख चंद—चौरासी लाख योनियाँ, ऊदै किया—उदित किया, तऊ—तब भी, दिष्टि नहिं मंद—अज्ञानी के ज्ञान चक्षु नहीं खुलते । अलंकार : रूपकातिशयोक्ति ।

१९. भली भई—अच्छा हुआ, नहीं तर—नहीं तो (अन्यथा), हांणि—हांनि, दीपक दिष्टि पतंग ज्यों – जिस प्रकार पतंग दीपक को देखकर उसी को सर्वस्व समझकर उसपर कूद पड़ता है, पूरी जांणि—पूर्ण (सब कुछ) समझकर । अलंकार : उदाहरण ।

२०. भ्रमि–भ्रमि—भ्रमित होता हुआ, इवैं—इसी पर, उबरत—बच पाते हैं । अलंकार : परंपरित रूपक, वीप्सा ।

२१. बपुरा—बेचारा, सिषही—शिष्य में, चूक—कमी, प्रमोधि ले—समझा दे, बसी—वंशी । अलंकार : अर्थातरन्यास ।

२२. संसै—संशय, अष्परां—अक्षर ज्ञान, तिनि—उसने, चुणि चुणि खद्ध—चुन चुन कर खाया । अलंकार : पुनरुक्ति ।

२३. चेतनि—चैतन्य ज्ञान, बैसि करि—बैठ कर, दीन्हाँ धीर—ज्ञानोपदेश दिया, निरभ होइ—निर्भय होकर, निसंक भजि—निर्भय भजन करो । अलंकार : वृत्यनुप्रास ।

सतगुर मिल्या त का भया, जे मनि पाड़ी भोल।
पानि बिनंठा कप्पड़ा, क्या करै बिचारी चोल॥ २४॥

बूड़े थे परि ऊबरै, गुर की लहरि चमंकि।
भेरा देख्या जरजरा, (तब) ऊतरि पड़े फरंकि॥ २५॥

गुर गोबिंद तौ एक हैं, दूजा यहु आकार।
आपा मेट जीवत मरै, तौ पावै करतार॥ २६॥

कबीर सतगुर नाँ मिल्या, रही अधूरी सीष।
स्वाँग जती का पहरि करि, घरि घरि माँगै भीष॥ २७॥

सतगुर साँचा सूरिवाँ, तातै लीहीं लुहार।
कसणी दे कंचन किया, ताइ लिया ततसार॥ २८॥

थापणि पाई थिति भई, सतगुर दीन्हीं धीर।
कबीर हीरा बणजिया, मान सरोवर तीर॥ २९॥

---

२४. त का भया—उसका क्या हुआ, जे मनि पाड़ी भोल—जिसके मन में भ्रम पड़ा हुआ है, बिनंठा—विनष्ट हुआ, चोल—मजीठ। अलंकार : प्रतिवस्तूपमा।

२५. बूड़े थे—डूबे थे, परि—परन्तु, ऊबरे—बच गये, भेरा—बेड़ा, जरजरा—जीर्ण-शीर्ण, ऊतरि पड़े—उतर पड़े, फरंकि—तुरन्त।

२६. आपा अपनापन (अहं भाव), मेट—मिटाकर, करतार—सृष्टिकर्ता भगवान। अलंकार : सामान्य।

२७. सीष—सीख (शिक्षा), स्वाँग जती का—तपस्वी का रूप, भीष—भीख (भिक्षा)।

२८. साँचा—सच्चा, तातैं—तप्त, लीहि—लोहा, कसणी—कसना, कंचन—सोना, ततसार—सारतत्व।

२९. थापणि पाई थिति भई—(शिष्य रूप में) अंगीकार पाकर (शिष्य का मन) स्थिर हुआ, बणजिया—वाणिज्य (व्यापार), मानसरोवर—मन रूपी मानसरोवर (हिमालय में मनसरोवर है और वहाँ हंस के मोती चुगने की कल्पना की जाती है।) अलंकार : श्लेष से पुष्ट रूपकातिशयोक्ति।

निहचल निधि मिलाइ तत, सतगुर सास धीर।
निपजी मैं सांझी घणां, बाटै नहीं कबीर ॥ ३० ॥

चौपड़ि मांड़ि चौहटै, अरध उरध बाजार।
कहै कबीरा राम जन, खेलौ संत विचार ॥ ३१ ॥

पासा पकड़ या प्रेम का, सारी किया शरीर।
सतगुर दाव बताइया, खेलैं दास कबीर ॥ ३२ ॥

सतगुर हम सूँ रीझि करि, एक कह्या प्रसंग।
बरस्या बादल प्रेम का, भीजि गया सब अंग ॥ ३३ ॥

कबीर बादल प्रेम का, हम पर बरष्या आइ।
अंतरि भीगी आत्मां, हरी भई बनराई ॥ ३४ ॥

---

३०. निहचल निधि मिलाइ—निश्चल निधि ब्रह्म से मिलाकर, तत—आत्मा, सांझी—भागीदार, घणां—घना, सास—साहस।

३१. चौपड़ि मांड़िचौहटै—शरीर के चौराहे पर चौपड़ (खेल) बिछी हुई है। अरध उरध बाजार—नीचे-ऊपर बाज़ार लगा हुआ है। (हठयोग के अनुसार शरीर में षड् चक्रों की स्थिति है, जो नीचे मूलाधार से आरंभ होकर ऊपर ब्रह्मरंध्र तक फैले हुए हैं। योग के अनुसार यम-नियम, प्राणायाम आदि द्वारा कुण्डलिनी को जगाया जाता है। यह जागृत कुण्डलिनी ऊर्ध्वमुखी हो मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्धाख्य एवं आज्ञाचक्र को पारकर ब्रह्मरंध्र में पहुँचती है तो योगी समाधिस्थ हो जाता है।) राम जन—प्रभु भक्त, खेलौ संत विचार—संत लोग जागृत कुण्डलिनी के ऊर्ध्वमुखी बन षड्चक्र भेदन का यह खेल (योग साधना) खूब खेलते हैं। अलंकार : रूपकातिशयोक्ति।

३२. या प्रेम का—इस प्रेम का। अलंकार : रूपक।

३३. रीझि करि—प्रसन्न होकर, बरस्या—बरस पड़ा, भीजि गया—भीग गया। अलंकार : रूपक।

३४. बनराइ—वन के पेड़-पौधे। अलंकार : रूपक, असंगति।

पूरे सूं परचा भया, सब दुख मेल्या दूरि।
निर्मल किन्हीं आतमां, ताथैं सदा हजूरि ॥ ३५ ॥

---

३५. पूरे सूं—पूर्ण (गुरु) से, परचा भया—परिचय हुआ, दुख मेल्या दूरि—दुख दूर कर दिया, निर्मल किन्ही आतमां—आत्मा को निर्मल किया, ताथैं—इससे, हजूरि—मालिक की सेवा।

२. सुमिरन कौ अंग

भगवान का नाम-स्मरण भक्ति का एक अपरिहार्य अंग है। नाम-स्मरण नवधा भक्ति में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। हिन्दी के भक्ति कालीन साहित्य में इस नाम-स्मरण की महत्ता गायी गयी है। भक्त प्रवर तुलसी ने भगवान के नाम रूपी मणिदीप को जीभ-देहली पर धरने का उपदेश दिया है, जिससे शरीर रूपी कमरे के भीतर-बाहर चैतन्य प्रकाश फैल जाता है। भगवान से अधिक उनके नाम की महिमा है। इसी नाम स्मरण ने अनेक पापियों का उद्धार किया है।

कबीर की भक्ति-पद्धति में भगवान के नाम-स्मरण को अत्यधिक महत्व प्राप्त है। उनका उपदेश है कि नाम-स्मरण के बिना इस संसार में किसी का भला नहीं होता। वास्तव में भगवान का नाम सार तत्व है और यही साधक को सब प्रकार के सुख प्रदान करता है; इसकी उपेक्षा करके, और साधनों को अपनाना दुख को निमंत्रण देना मात्र है। इसके रहते और साधनों के पीछे भटकने वाला काल-जाल में जाकर फँसता है। साधक जब सर्वात्मना अपनी इन्द्रियों तथा मन को नाम स्मरण में लगा देता है तब उसे ईश्वर रूपी रत्न की प्राप्ति होती है। यह मनुष्य-जन्म ही नाम स्मरण का सुयोग है, इसकी उपेक्षा करने पर जीव मृत्यु का ग्राहक बनता है और फिर उसे भगवान का स्मरण करने का सुअवसर कभी प्राप्त नहीं होता।

यह संसार कालचक्र का ग्रास है। यहाँ मृत्यु नितांत अपरिहार्य है। वह हर जीव की प्रतीक्षा कर रही है कि कब उसे ले चले। यह काल चक्र इतना प्रबल है कि उसकी गर्जना से ब्रह्मा का भी जब आसन खिसक गया है तब साधारण मनुष्य की क्या हस्ती है कि वह उसका सामना कर सके। किन्तु इस काल चक्र से रक्षा पाने का एकमात्र साधन भगवान के नाम का दिन-रात जप करना ही है। जिस अधम के हृदय में भगवान के प्रति सच्ची प्रीति नहीं है, जिसकी रसना नाम स्मरण में तल्लीन नहीं रहती, वह इस संसार में व्यर्थ जन्म लेकर नष्ट हो रहा है। मनुष्य पूर्व जन्म के पापों का संचित फल लेकर इस लोक में जन्म लेता है और अपने पापों का बोझ ढोता हुआ अपार दुःख

अनुभव करता है। वही मनुष्य भगवान की शरण में आकर क्षण भर में अपने दुःखों से निवृत्त हो जाता है। निष्ठापूर्वक भगवान का नाम जपने से मनुष्य भौतिक संसार के परे ब्रह्म के निकट पहुँच जाता है और उसे फिर आवागमन से मुक्ति मिल जाती है। इस नाम स्मरण के बिना मनुष्य अनेक योनियों में भटकता रहता है, फिर भी भगवत् दर्शन का सौभाग्य प्राप्त नहीं होता। नाम स्मरण रूपी महान साधन के रहते अज्ञानी ही अन्यान्य उपायों की खोज करता है। इस प्रकार भगवान का नाम स्मरण अमोघ अस्त्र है, जिसके सहारे भक्त भगवान के श्री चरणों में शाश्वत स्थान प्राप्त कर सकता है। इसलिए दिन-रात इसी में मन लगाना श्रेयस्कर है।

कबीर कहता जात हूँ, सुणता है सब कोइ।
राम कहें भला होइगा, नहिं तर भला न होइ॥ ३६॥

कबीर कहै मैं कथि गया, कहि गया ब्रह्म महेस।
राम नाँव ततसार है, सब काहू उपदेश॥ ३७॥

तत तिलक तिहूँ लोक मैं, राम नाँव निज सार।
जन कबीर मस्तक दिया, सोभा अधिक अपार॥ ३८॥

भगति भजन हरि नाँव है, दूजा दुक्ख अपार।
मनसा वाचा क्रमनां, कबीर सुमिरण सार॥ ३९॥

---

३६. सुणता—सुनता है, नहितर—नहीं तो।

३७. कथि गया—कह गया, महेस—शिव, नाँव—नाम; ततसार—तत्व का सार, सब काहू—सब का। (कबीर बहुदेवोपासना के विरोधी थे, किन्तु यहाँ ब्रह्मा तथा महेश की दुहाई देकर अपने कथन को सिद्ध करते हैं। अतः निर्गुणोपासक एवं एकेश्वरवादी कबीर कभी कभी सगुणोपासक एवं बहुदेवोपासक की ओर झुकते-से जान पड़ते हैं।) अलंकार : वृत्यनुप्रास।

३८ तत—तत्व, तिहूँ लोक में —तीनों लोक (स्वर्ग, भूमि और पाताल) में, मस्तक दिया—मस्तक पर (तिलक) धारण किया। अलंकार : वृत्यनुप्रास।

३९. दूजा—दूसरा, मनसा—मन से, वाचा—वचन से, क्रमनां—कर्म से।

कबीर सुमिरण सार है, और सकल जंजाल।
आदि अंति सब सोधिया, दूजा देखौं काल ॥ ४० ॥

च्यंता तौ हरि नाँव की, और न चिंता दास।
जे कुछ चितवैं राम बिन, सोइ काल की पास ॥ ४१ ॥

पंच सँगी पिव पिव करै, छठा जु सुमिरे मंन।
आई सूति कबीर की, पाया राम रतंन ॥ ४२ ॥

मेरा मन सुमिरै राम कूं, मेरा मन रामहि आहि।
अब मन रामहि ह्वै रह्या, सीस नवावौं काहि ॥ ४३ ॥

तूं तूं करता तूं भया, मुझ मैं रही न हूँ।
वारी फेरी बलि गई, जित देखौं तित तूं ॥ ४४ ॥

कबीर निरभै राम जपि, जब लग दीवै बाति।
तेल घट्या बाती बुझी, (तब) सोवैंगा दिन राति ॥ ४५ ॥

कबीर सूता क्या करै, काहे न देखै जागि।
जाका सँग तैं बीछुड्या, ताही के सँग लागि ॥ ४६ ॥

---

४०. सकल—सब कुछ, जंजाल—उलझन, सोधिया—परिशोधन किया। अलंकार : वृत्यनुप्रास।

४१. च्यंता—चिन्ता, चितवैं—चिन्ता करता है, पास—पाश (रस्सी)।

४२. पंच सँगी - पाँचों इंद्रियाँ, पिव प्रियतम, सूति—योग-समाधि की अवस्था,

४३ रामहि आहि—राम में है, सीस नवावौं—सिर झुकाऊँगा। अलंकार : वृत्यनुप्रास।

४४. हूँ—अहं भाव। रहस्यवाद की अंतिम स्थिति का वर्णन है।

४५. बाति—जीवन रूपी वर्तिका, तेल घट्या—श्वास रूपी तेल समाप्त होने पर।

४६. सूता—सोता हुआ (अज्ञान में पड़ा हुआ), जाका सँग तैं बिछुड्या—जिसका साथ बिछुड़ आया (जीव परमात्मस्वरूप है, किन्तु जीवधारी बनकर या वैयक्तिक अस्तित्व को प्राप्त कर वह अपने अंशी से पृथक् हो जाता है।) प्रस्तुत दोहे में कबीर की अद्वैतवादी भावना प्रकट होती है। ताही के संग लागि—उसी अंशी के संग में जाओ। (माया जनित पृथकत्व के समाप्त होते ही जीव अपने वास्तविक स्वरूप ब्रह्म में तल्लीन हो जाता है।)

कबीर सूता क्या करे, जागि न जपै मुरारि।
एक दिनां भी सोवणां, लंबे पाँव पसारि ॥ ४७ ॥

कबीर सूता क्या करै, उठि न रोवै दुक्ख।
जाका बासा गार मैं, सो क्यूँ सोवै सुक्ख ॥ ४८ ॥

कबीर सूता क्या करै, गुण गोबिंद के गाइ।
तेरे सिर परि जम खड़ा, खरच कदे का खाइ ॥ ४९ ॥

कबीर सूता क्या करे, सूतां होइ अकाज।
ब्रह्मा का आसण खिस्या, सुणत काल की गाज ॥ ५० ॥

केसौ कहि कहि कूकिये, नां सोइयै असरार।
राति दिवस कै कूकणैं, (मत) कबहूँ लगै पुकार ॥ ५१ ॥

जिहि घटि प्रीति न प्रेम रस, फुनि रसना नहीं राम।
ते नर इस संसार में, उपजि षये बेकाम ॥ ५२ ॥

---

४७. जागि – ज्ञान-चेतना में आकर, मुरारि—यहाँ मुरारि शब्द सगुण कृष्ण के लिए प्रयुक्त न होकर अलख अरूप ब्रह्म के लिए आया है, जैसे कि अन्य स्थानों पर राम, साई, आदि ब्रह्म सम्बन्धी पर्याय प्रयुक्त हुए हैं। सोवणां लंबे पांव पसारि—चिर निद्रा में (मृत्यु) पड़ जाना।

४८. बासा—वास, गार—मृत्यु। शरीरधारी बनने पर मृत्यु अवश्यं-भावी है, जीव प्रतिक्षण उसी मृत्यु की ओर बढ़ रहा है। संसार स्वयं क्षणिक एवं नाशवान है और ऐसे संसार में जीने का तात्पर्य है—मृत्यु का ग्रास बने रहना।

४९. जम—मृत्यु (यमधर्मराज)।

५०. सूतां—सोता हुआ, अकाज - नुकसान, खिस्या—खिसक गया, सुणत—सुनते ही, आसण—आसन, गाज—गर्जना। भला कालचक्र की गति में जब ब्रह्मा तक का आसन खिसक गया, तब शरीरधारी निस्सहाय मानव की क्या हस्ती है कि वह कालचक्र में टिका रहे।

५१. केसौ केशव, असरार—अर्थहीन, अज्ञान; कूकणैं—कूकना (पुकारना)। अलंकार : वृत्यनुप्रास।

५२. जिहि घटि – जिस हृदय में, फुनि—पुनः, रसना—जिह्वा, उपजि —जन्म लेकर, षये—क्षयी हुए, बेकाम—व्यर्थ।

कबीर प्रेम न चषिया, चषि न लीया साव।
सूने घर का पाहुणां, ज्यूँ आया त्यूँ जाव ।। ५३ ।।

पहली बुरी कमाइ करि, बाँधी विष की पोट।
कोटि करम फिल पलक में, (जब) आया हरि की ओट ।। ५४ ।।

कोटि क्रम पेलै पलक में जे रंचक आवै नाउँ।
अनेक जुग से पुन्नि करै, नहीं राम बिन ठाऊँ ।। ५५ ।।

जिहि हरि जैसा जांणियां, तिन कूँ तैसा लाभ।
ओसों प्यास न भाजई, जब लग धसै न आभ ।। ५६ ।।

राम पियारा छाड़ि करि, करै आन का जाप।
बेस्वां केरा पूत ज्यूँ, कहैं कौन सूँ बाप ।। ५७ ।।

कबीर आपण राम कहि, औरां राम कहाइ।
जिहि मुखि राम न उचरे, तिहि मुख फेरि कहाइ ।। ५८ ।।

---

५३. चषिया—चख लिया, साव—स्वाद, पाहुणां—अतिथि। अलंकार : उपमा।

५४. पहली बुरी कमाई—पूर्व जन्म के पाप, पोट—पोटली, फिल-पलक में—पल भर में समाप्त, हरि की ओट—भगवान की शरण में।

५५. कोटि क्रम—करोड़ों पाप कर्म, पेलै—नष्ट हुए, रंचक—ज़रा-सा, पुन्नि—पुण्य, ठाउँ—स्थान।

५६. जांणियां—जाना, भाजई—नष्ट होता, आभ—पानी। अलंकार : लोकोक्ति।

५७. पियारा—प्यारा, छाड़ि करि—छोड़कर, आन का जाप—दूसरे देवताओं का स्मरण, बेस्वां केरा पूत—वेश्या का पुत्र। अलंकार : उपमा।

५८. आपण—अपने आप, औरां—औरों से, ऊचरे—उच्चारण करता है।

जैसें माया मन रमैं, यूँ जे राम रमाइ।
(तौ) तारा मंडल छाँड़ि करि, जहाँ के सो तहाँ जाइ ॥ ५९॥

लूटि सकै तो लूटियौ, राम नाम है लूटि।
पीछैं ही पछिताहुगे, यह तन जैहैं छूटि ॥ ६०॥

लूटि सकै तौ लूटियौ, राम नाम भंडार।
काल कंठ तैं गहैगा, रूंधै दसूं दुवार ॥ ६१॥

लंबा मारग दूरि घर, बिकट पंथ बहु मार।
कहौ संतौ क्यूं पाइये, दुर्लभ हरि दीदार ॥ ६२॥

---

५९. तारा मंडल—नक्षत्र मंडल (भौतिक संसार), जहाँ के सो तहाँ जाइ—जो जहाँ का है, वह वहीं चला जाता है, (जीव परमात्मा से उद्भूत है और मायावश इस संसार को अपना अस्थायी वास-स्थान बना लिया है। माया के प्रति जो आसक्ति है, वही आसक्ति भगवान के प्रप्ति हो तो जीव संसार के परे ब्रह्म के पास पहुँच जाता है, जहाँ से वह इधर आया था।)

६०. पीछैं ही—पीछे (मृत्यु के उपरांत), जैहैं—जाएगा।

६१. काल—मृत्यु, रूंधै—रुंध जाएँगे, दसूं दुवार—शरीर के दस द्वार हैं—दो आँखें, दो कान, दो नासिका विवर, एक मुख, गुदामार्ग, पायु मार्ग और ब्रह्मरंध्र। ये दस पिण्डस्थ द्वार हैं। संत कवियों ने ब्रह्म-रंध्र के लिए दसवां द्वार का प्रयोग किया है। मलिक मुहम्मद जायसी ने भी नौ पौरी और दसवं दुआर की कल्पना की है।

६२. लंबा मारग—लंबा रास्ता (जीवन का पथ), दूरी पर—पहुँचने का वास्तविक घर (ब्रह्म) दूर पर है, बिकट—कठिन, बहुमार—बहुत से डाकू (काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह आदि वासनाएँ) शंकराचार्य ने भी काम, क्रोध और लोभ रूपी तस्करों की कल्पना की है—

काम क्रोधश्च लोभश्च देहे तिष्ठति तस्करा।
ज्ञान रत्नापहाराय तस्मै जाग्रत जाग्रत ॥

दीदार—दर्शन। अलंकार : रूपकातिशयोक्ति।

गुण गायें गुण नाम कटै, रटै न नाम बियोग।
अह निसि हरि ध्यावै नहीं, क्यूं पावै द्रुलभ जोग ॥ ६३ ॥

कबीर कठिनाई खरी, सुमिरतां हरि नाम।
सूली ऊपरि नट विद्या, गिरूं त नाहीं ठाम ॥ ६४ ॥

कबीर राम ध्याइ लै, जिभ्यां सौं करि मंत।
हरि सागर जिनि बीसरै, छीलर देखि अनंत ॥ ६५ ॥

कबीर राम रिझाइ लै, मुखि अमृत गुण गाई।
फूटा नग ज्यूं जोडि मन, संधे संधि मिलाइ ॥ ६६ ॥

कबीर चित चमकिया, चहुं दिसि लागी लाइ।
हरि सुमिरण हाथूं घड़ा, बेगे लेहु बुझाइ ॥ ६७ ॥

---

६३. गुण गायें—भगवान की गुणावली गायें, गुण नाम—संसार का बंधन, अहनिसि–दिन–रात, द्रुलभ—दुर्लभ, जोग—संयोग। अलंकार : यमक।

६४. खरी—भारी, सूलि ऊपरि नट विद्या—भगवान का स्मरण सरल नहीं है; बीच में कई कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। इसलिए सूली पर चढ़कर अपनी कुशलता दिखाते नट का रूपक बांधा गया है। ठाम—स्थान। अलंकार : रूपक।

६५. जिभ्यां सौं—जीभ से, मंत—मंत्र, छीलर—(संसार के भौतिक सुख रूपी) पोखर। अलंकार : रूपक और रूपकातिशयोक्ति।

६५. नग—रत्न, संधे—जोड़कर। अलंकार : उपमा।

६७. चित चमकिया—चित्त रूपी चकमक पत्थर, लाइ—आग (माया के प्रलोभन)। अलंकार : साँगरूपक।

३. बिरह कौ अंग

प्राचीन काल से प्रायः सब संत कवियों ने दाम्पत्य प्रेम को प्रतीक मान-कर अपनी आध्यात्मिक भावना को अभिव्यक्त किया है। सूरदास, मीरा घनानंद आदि कितने ही कवियों के काव्य में इस प्रकार की भावना की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है! बात यह है कि प्रेम की चरम परिणति दाम्पत्य प्रेम में परिलक्षित होती है और यही वह प्रेम है जिस में प्रेमी-प्रेमिका एक मन एक प्राण हो जाते हैं। प्रेमोपासिका मीरा श्रीकृष्ण के प्रेम में तन्मय हो घर-बार, लोकलाज सब खो बैठी और उन्होंने श्रीकृष्ण को अपना 'साँचो प्रीतम' मानकर विभिन्न शृंगारिक चेष्टाओं को वाणी दी। तमिलनाडु की प्रसिद्ध आलवार संत कवयित्री आण्डाल का विष्णु के प्रति प्रेम लोक विदित है और कहा जाता है कि उन्होंने स्वप्न में विष्णु के साथ अपने आध्यात्मिक विवाह को देखा था।

संत कबीर ने भी रहस्यवाद के क्षेत्र में दाम्पत्य प्रेम लीला को श्रेष्ठ ठहराया है। उन्होंने आत्मा-परमात्मा के प्रेम के विभिन्न सोपानों का विशद चित्र अंकित किया है। काव्यशास्त्रों में उल्लिखित शृंगार के दोनों रूप—संयोग एवं वियोग-कबीर-काव्य में उपलब्ध होते हैं। दाम्पत्य प्रेम का सब से निखरा रूप वियोग में प्रकट होता है क्योंकि विरह प्रेम का तप्त कंचन है, जहाँ आकर प्रेमी-प्रेमिका अपने हृदय के कालुष्य को पूर्णतया निकाल कर अहर्निश केवल प्रेमालंब के स्मरण, ध्यान एवं गुणकथन में तन्मय रह जाते हैं। विरह में दोनों के हृदय एक दूसरे के निकट आ जाते हैं और प्रेमालंब को छोड़कर और कुछ सोचने के लिए अवसर भी उन्हें प्राप्त नहीं होता। वैसे आध्यात्मिक प्रेम में विरह भगवान की प्राप्ति का साधन है। इसी विरह का सहारा लेकर आत्मा परमात्मा के महामिलन के पथ पर अग्रसर होती हुई अंत में मिलनानुभूति का आनंद प्राप्त करती है। यही कारण है, कबीर ने आध्यात्मिक विरह का बड़ा ही विशद एवं अनुभूति पूर्ण वर्णन किया है। कबीर के समस्त काव्य में विरह वर्णन अनुभूति की तीव्रता की दृष्टि से बेजोड़ है और यहाँ पर कबीर का वास्तविक हृदयपक्ष प्रकट होता है। जिन आलोचकों ने कबीर के काव्य में शुष्कता एवं नीरसता मात्र का अनुभव किया, वे भी इस विरह वर्णन की प्रशंसा करते हुए देखे जाते हैं।

कबीर का यह आध्यात्मिक विरह वर्णन रहस्यवादी दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण है। कबीर ने अपने को प्रिया तथा परमात्मा को प्रियतम मानकर जिन उत्कट अनुभूतियों को वाणी दी, वह वास्तव में हिन्दी की अक्षय निधि है। अंग्रेज़ी की प्रसिद्ध आलोचक ई. अण्डरहिल ने रहस्यवाद के पाँच सोपान माने हैं जिनमें प्रथम बेचैनी की अवस्था है। उनके अनुसार कबीर के विरह वर्णन में अगजग व्याप्त यह बेचैनी रहस्यवाद का प्रथम सोपान है। भारतीय चिन्तकों ने रहस्यवाद के तीन सोपान मानते हुए आध्यात्मिक विरहानुभूति को रहस्यवाद की द्वितीय मंजिल स्वीकार की है जहाँ विरहिणी आत्मा प्रियतम परमात्मा के वियोग में आठ पहर चौंसठ घड़ी टीस, कसक एवं बेचैनी का अनुभव करती है और प्रियतम के दर्शन की अभिलाषा लेकर उसी की बाट जोहती रहती है।

संत कबीर ने आत्मा को विरहिणी मानकर क्रौंच पक्षी के समान मिलनाकांक्षा लेकर चीत्कार करते दिखाया है। आत्मा का यह विरह क्रौंच-पक्षी की तुलना में सौगुना बढ़कर है क्योंकि क्रौंच पक्षी का विरह निश्चित है केवल रात भर का है। आत्मा का यह विरह अंतहीन है, उसकी कोई सीमा निश्चित नहीं है। राम वियोगी आत्मा को न दिन में सुख है न रात में। सोते-जागते वह उसी बेचैनी में रहती है।

कबीर ने विरहिणी आत्मा को पतिव्रता का रूपक दिया है। जैसे पति-व्रता पति को छोड़कर और कहीं मुड़कर भी नहीं देखती वैसे आत्मा रूपी विरहिणी भी अहर्निश परमात्मा रूपी प्रिय के ध्यान में अपना समय काटती है। वह प्रतिक्षण उसी का पथ देखती रहती है। रास्ते से किसी यात्री को जाते देखकर वह अपनी मिलनाकांक्षा लेकर दौड़ती है और प्रत्येक पथिक से यही पूछ बैठती है कि प्रियतम कब आने वाले हैं ? वह विरह की असह्य दशा में पहुँचती है तो स्वयं अपने प्रिय से कहती है कि मरने के बाद प्राप्त मिलन किस काम का है। प्रिय विरह में उसे पलभर का विश्राम नहीं है, वह अत्यन्त बेचैन है। इससे वह इतनी कृशकाय हो जाती है। कि उठने-बैठने में भी असमर्थ है। इसलिए उठती हुई वह नीचे गिर पड़ती है। विरह की चोट केवल विर-हिणी जानती है। इस विरह की चोट खायी विरहिणी स्वयं जल-जलकर भस्म होना चाहती है क्योंकि उसका विचार है कि जलन का धुआँ जब स्वर्ग में पहुँच जाएगा तब प्रियतम संभवतः चेत जाएगा और सुधि करके भाग आएगा।

आगे विरह को भुजंग का रूपक देकर कबीर का कथन है कि विरह रूपी सर्प के दंशन पर कोई मंत्र भी असरदार नहीं होता। राम वियोगी की मृत्यु निश्चित है, अगर वह जिन्दा रहा तो पागल ही रह जाएगा। विरह-भुजंग

ने भीतर घुसकर कलेजे को कुतर डाला है और उसकी पीड़ा में विरहिणी इतनी अशक्त हो गयी कि वह अपने शरीर के अंगों को मोड़ भी नहीं पाती ।

विरहार्त आत्मा की कारुणिक दशा का वर्णन करते हुए कबीर कहते हैं कि प्रिय का पथ देखती-देखती उसकी आँखे निःतेज हो गयी हैं और प्रिय का नाम रटते-रटते जिह्वा पर छाले पड़ गये हैं

कबीर का मत है कि विरह बुरा नहीं है, यही प्रिय-प्राप्ति का एकमात्र साधन है। हँसते हुए किसी ने अबतक प्रिय को नहीं पाया है, जिसने भी पाया है, रोते हुए पाया है। अगर हँसी-खेल में प्रिय मिल सकता है तो इस संसार में कौन दुर्भाग्यवती रहेगी ? आत्मा सांसारिक माया में मोहित हो अपने प्रिय को खो बैठी है। जब वह इस माया की असारता पहचान कर रोती हुई आगे बढ़ती है तब परमात्मा प्राप्त होता है। कबीर की विरहिणी की अब दो ही आशाएँ रह गयी हैं—या तो मृत्यु प्राप्त करे या प्रियदर्शन प्राप्त हो। उसे आठ पहर का रोना-धोना असह्य-सा लगता है। वह प्रिय की पसंद का वेष धारण करके उसे प्रसन्न रखने के लिए तैयार है। वह उसे आँखों में लिटा देगी और पलक-कपाट देकर छिपाये रखेगी। वह स्वयं और को नहीं देखेगी और न किसी को उसे देखने देगी। सारांश यह कि कबीर के काव्य में आत्मा रूपी विरहिणी की तड़प, विवशता, बेचैनी, मिलनाकांक्षा आदि विविध भावों, चेष्टाओं का वर्णन हुआ है। यहाँ उनकी स्वानुभूति की स्पष्ट झलक मिलती है।

रात्यूं रूनी बिरहनीं, ज्यूं बंचौं कूं कुंज।
कबीर अंतर प्रज्वल्या, प्रगट्या बिरहा पुंज ॥ ६८ ॥

अंबर कुंजा कुरलियाँ, गरजि भरे सब ताल।
जिनि थैं गोबिंद बीछुटे, तिनके कौण हवाल ॥ ६९ ॥

---

६८. रात्यूं—रात भर, रूनी—रोयी, बिरहनीं—विरहिणी, बंचौं—वियोगी, कुंज—क्रौंच पक्षी, अंतर—हृदय में, प्रजल्या—प्रज्वलित हो उठा, पुंज—समूह। अलंकार : उपमा।

६९. अंबर—आकाश, कुरलियाँ—कुररि पक्षी, जिनि थैं—जिनसे, गोबिंद—भगवान्, बीछुटे—बिछुड़ गये, तिनके—उनके, कौण—कौन, हवाल—रक्षक ।

चकवी बिछुटी रैणि की, आइ मिली परभाति ।
जे जन बिछुटे राम सूँ, ते दिन मिले न राति ॥ ७० ॥

बासुरि सुख नाँ रैणि सुख, नाँ सुख सुपिनै माँहि ।
कबीर बिछुट्या राम सूँ, नाँ सुख धूप न छाँह ॥ ७१ ॥

बिरहनि ऊभी पंथ सिरि, पंथी बूझै धाइ ।
एक सबद कहि पीव का, कबर मिलैंगे आइ ॥ ७२ ॥

बहुत दिनन की जोवती, बाट तुम्हारी राम ।
जिव तरसै तुझ मिलन कूं, मनि नाहीं विश्राम ॥ ७३ ॥

बिरहिन ऊठै भी पड़े, दरसन कारनि राम ।
मूवां पीछैं देहुगे, सो दरसन किहि काम ॥ ७४ ॥

---

७०. चकवी बिछुटी रैणि की—चक्रवाक पक्षी के संबंध में कवियों की कल्पना है कि चकवा और चकवी रात के समय नदी के दो किनारे पृथक रह जाते हैं और दोनों रात भर का वियोग सहकर प्रभात-काल में मिल जाते हैं । कविवर पंत ने भी इस ओर संकेत किया है—

वह कौन विहग ? क्या विकल कोक उड़ता, हरने निज विरह शोक ?
नौका विहार, आधुनिक कवि पन्त ।

छाया की कोकी को विलोक ।

७१. बासुरि—दिन, रैणि—रात, सुपिनै माँहि—सपने में ।

७२. ऊभी—खड़ी हुई, पंथी—यात्री, धाइ—दौड़कर, सबद—शब्द, कबर—कब । यहाँ विरहिनी की व्याकुलता एवं बेचैनी साकार हो उठी है ।

७३. बहुत दिनन की जोवती बाट—बहुत दिनों से बाट जोहती हूँ । जिव—जी (हृदय), विश्राम—शांति ।

७४. मूवां पीछैं—मरने के बाद, सो दरसन—वह दर्शन, किहि काम—किस काम का । ऊठै भी पड़े—विरहिणी उठकर भी गिर पड़ती है । (भगवान के दर्शन के लिए आत्मा जन्म धारण करके मृत्यु को प्राप्त करती है ।)

मूवां पीछैं जिनि मिलै, कहै कबीरा राम ।
पाथर घाटा लोह सब, (तब) पारस कौणैं काम ॥ ७५ ॥

अंदेसड़ा न भाजिसी, संदेसौ कहियां ।
कै हरि आयां भाजिसी, कै हरि ही पासि गयां ॥ ७६ ॥

आइ न सकौं तुझ पै, सकूं न तुझ बुलाइ ।
जियरा यौंही लेहुगे, विरह तपाइ तपाइ ॥ ७७ ॥

यहु तन जालौं मसि करुं, ज्यूं धूवां जाइ सरग्गि ।
मति वै राम दया करैं, बरसि बुझावै अग्गि ॥ ७८ ॥

यहु तन जालौं मसि करौं, लिखौं राम का नाउँ ।
लेखणि करुं करंक की, लिखि लिखि राम पठाउँ ॥ ७९ ॥

---

७५. जिनि मिलै—मत मिलो, पाथर घाटा लोह सब, तब पारस कौणैं काम—लोहे को प्रत्येक पत्थर पर घिस कर उसके समाप्त होने पर पारस किस काम का है ? पारस तभी लाभदायक है, जब लोहा हो। पारस के संबंध में यह कल्पना की जाती है कि वह लोहे को सोना बना देता है । जीव की मृत्यु पर परमात्मा मिले तो उससे कोई प्रयोजन नहीं है । अलंकार : दृष्टांत ।

७६. अंदेसड़ा—आशंका, भाजिसी—नष्ट होता है, भाजिसी—भाग आयें विरहिणी आत्मा का दूत के प्रति कथन है । अलंकार : यमक ।

७७. आइ न सकौं तुझ पै—आत्मा परमात्मा से कह रही है कि मैं (माया बंधन के कारण) तुम्हारे पास नहीं आ सकती । सकूँ न तुझे बुलाइ—मैं तुझे बुलाने की सामर्थ्य नहीं रखती (भगवान को अपने पास बुलाने के लिए सर्वात्मभाव से आत्म समर्पण किया हुआ होना चाहिए क्योंकि वही सच्ची भक्ति की पहचान है।), जियरा—प्राण, लेहुगे—लोगे । अलंकार : पुनरुक्ति ।

७८. जालौ मसि करुं—जलाकर भस्म करूँ, सरग्गि—स्वर्ग में, मति—संभव है, बरसि दयावृष्टि करके, अग्गि—आग ।

७९. लेखणि लेखनी (कलम), करंक—हड्डी, पठाउँ—भेजूं । अलंकार रूपक ।

कबीर पीर पिरावनीं, पंजर पीड़ न जाइ।
एक ज पीड़ परीति की, रही कलेजा छाइ॥ ८०॥

चाहे सतांणीं विरह कीं, सब तन जरजर होइ।
मारणहारा जांणिहै, कै जिंहि लागी सोइ॥ ८१॥

कर कमाण सर सांधि करि, खैंचि जु र्‍या मांहि।
भीतरि भिद्या सुमार ह्वै, जीवै कि जीवै नांहि॥ ८२॥

जबहूँ मान्या खैंच करि, तब मैं पाई जांणि।
लागी चोट मरम्म की, गई कलेजा छांणि॥ ८३॥

जिहि सरि मारी काल्हि, सो सर मेरे मन बस्या।
तिहि सरि अजहूँ मारि, सर बिन सच पाऊँ नाहीं॥ ८४॥

बिरह भुवंगम तन बसै, मंत्र न लागै कोइ।
राम बियोगी ना जिवै, जिवै तो बौरा होइ॥ ८५॥

---

८०. पीर—पीड़ा, पिरावनीं—टीस उत्पन्न करने वाली, पंजर—शरीर, परीति की—प्रीति की। अलंकार : काव्यार्थापत्ति, वृत्यनुप्रास।

८१. सतांणीं—सताती है, जरजर—जर्जर, मारणहारा—हत्यारा, कै—या।

८२. कमाण—धनुष, सर—शर, साँधि करि—साधकर, सुमार—गहरी-चोट। अलंकार : रूपकातिशयोक्ति और संदेह।

८३. जांणि—जान, ज्ञान; मरम्म—मर्म भेदक, छांणि—छेदकर।

८४. सरि—शर, अजहूँ—आज भी, सच—सत्य स्वरूप भगवान। अलंकार : रूपकातिशयोक्ति और वृत्यनुप्रास।

८५. भुवंगम—भुजग, जिवै—जीवित रहता है, बौरा—पागल। मंत्र न लागै कोइ—कोई मंत्र प्रभाव नहीं डाल पाता (बहुधा सर्पदंशन के विष को मंत्र से उतारने की प्रथा है। अलंकार : रूपक।

बिरह भुवंगम पैसि करि, किया कलेजै घाव ।
साधू अंग न मोड़ही, ज्यूँ भावै त्यूँ खाव ॥ ८६ ॥

सब रंग तंतर बाबतन, ब्रिरह बजावै नित्त ।
और न कोई सुणि सकै, कै साईं कै चित्त ॥ ८७ ॥

बिरहा बुरहा जिनि कहौ, बिरहा सुलितान ।
जिहि घट बिरह न संचरै, सो घट सदा मसान ॥ ८८ ॥

अंषड़ियाँ झांई पड़ी, पंथ निहारि निहारि ।
जीभड़ियाँ छाला पड़्या, राम पुकारि पुकारि ॥ ८९ ॥

इस तन का दीवा करौं, बाती मेल्यूँ जीव ।
लोही सींचौं तेल ज्यूँ, कब मुख देखौं पीव ॥ ९० ॥

---

८६. पैसि करि—पैठकर, साधू अंग न मोड़ही—साधक आत्मा विरह रूपी सर्प के दंशन से इतनी व्याकुल है कि वह अपना शरीर हिलाता-डुलाता भी नहीं है। ज्यूँ भावै त्यूँ खाव—साधक को निश्चल पाकर विरह रूपी भुजंग शरीर को कुतर-कुतर कर जैसा रुचे वैसा खाता है। अलंकार : रूपक।

८७. रँग—रग (शिराएँ), तंतर—पशु में चर्म से निर्मित तांत जो तन्त्री प्रयुक्त होती है, बाब तन—शरीर रूपी इकतारा। और न कोई सुणि सकै, कै साईं कै चित्त—शरीर रूपी एकतारे से निसृत स्वर को या तो परमात्मा सुनता है या साधक का हृदय, दोनों के अतिरिक्त कोई इसे सुन नहीं पाता। अलंकार : साँगरूपक, वृत्यनुप्रास।

८८. बुरहा—बुरा, सुलितान—बादशाह, घट—हृदय, मसान—श्मशान। अलंकार : वृत्यनुप्रास, रूपक।

८९. अंषड़ियाँ—आँखें, झांई पड़ी—मंद पड़ी, निहारि—देखकर, जीभड़ियाँ—जीभ। अलंकार : वीप्सा, अतिशयोक्ति।

९० दीवा—दीपक, मेल्यूँ—डालूँ, जीव—प्राण, लोही—खून। अलंकार : रूपक, उपमा।

नैंना नींझर लाइया, रहट बहै निस जाम।
पपीहा ज्यूँ पिव पिव करौं, कबरु मिलहुगे राम॥ ९१॥

अषड़याँ प्रेम कसाइयां, लोग जांणैं दुखड़ियाँ।
साईं आपणैं कारणैं, रोइ रोइ रतड़ियाँ॥ ९२॥

सोई आंसू सजणां सोई लोक बिड़ांहि।
जे लोइण लोंहीं चुवै तौ जांणौं हेत हियांहि॥ ९३॥

कबीर हसणां दूरि करि, करि रोवन सौं चित्त।
बिन रोयां क्यूं पाइए, प्रेम पियारा मित्त॥ ९४॥

जौं रोऊँ तौ बल घटै, हँसौं तो राम रिसाई।
मनही मांहि बिसूरणा, ज्यूं घुंण काठहिं खाइ॥ ९५॥

हँसि हँसि कंत न पाइए, जिनि पाया तिनि रोइ।
जो हाँसेंही हरि मिलै, तो नहीं दुहागनि कोइ॥ ९६॥

---

९१. नैंन—नेत्रों से; नींझर—निर्झर, रहट—पानी खींचने के काम में आती चरखी, निस-जाम—रात दिन। अलंकार : उपमा, वीप्सा।

९२. प्रेम कसाइयां—प्रेम रूपी कसौटी पर कस ली गयी, जाणैं—समझते हैं, दुखड़ियां—दुखिनी। अलंकार : पुनरुक्ति।

९३. सोई आँसू—वे ही अश्रु, सजणां—सज्जनों के, लोक बिडांहि—लोक विरुद्ध अर्थात् दुर्जनों के, लोइण—लोचन, लोहीं चुवैं—रक्त के आँसू चू पड़ते हैं, तौ जाणौं—वे ही जानते हैं, हेत—प्रेम। अलंकार : वृत्यनुप्रास।

९४. हसणां—हँसी, रोवण—रुदन, मित्त—मित्र। अलंकार : वृत्यनुप्रास।

९५. बल घटै—कमजोर होता है, रिसाइ—क्रुद्ध होंगे, बिसूरणां—क्रंदन, ज्यूं घुंण काठहिं खाइ—जैसे घुन अन्दर ही अन्दर काष्ठ को खा खा कर खोखला बना देती है। अलंकार : उदाहरण।

९६. कंत—पति (परमात्मा), जिन—जिन्होंने, हाँसेंही—हँसी में, दुहागिनि—दुर्भाग्यवती। अलंकार : वीप्सा।

हाँसी खेलौं हरि मिलै, कौण सहै षरसान।
काम क्रोध त्रिष्णां तजै, ताहि मिलै भगवान ॥ ९७ ॥

पूत पियारो पिता कौं, गौंहनि लागा धाइ।
लोभ मिठाई हाथि दे, आपण गया भुलाइ ॥ ९८ ॥

डारी खांड़ पटकि करि, अंतरि रोस उपाइ।
रोवत रोवत मिलि गया, पिता पियारे जाइ ॥ ९९ ॥

नैनां अंतरि आचरूं, निस दिन निरषौं तोंहि।
कब हरि दरसन देहुगे, सो दिन आवै मोंहि ॥१००॥

कबीर देखत दिन गया, निस भी देखत जाइ।
बिरहणि पिव पावै नहीं, जियरा तलपै माइ ॥१०१॥

---

९७. हांसी खेलौं—हँसी-खेल में, षसान—तलवार (तलवार की धार के समान दुखदायिनी विरह वेदना), त्रिष्णां—तृष्णा। अलंकार : रूपकातिशयोक्ति, काकु वक्रोक्ति।

९८. पूत—पुत्र, गौहनि—साथ, आपण—अपने आप। सामाजिक जीवन से गृहीत यह रूपक अत्यन्त प्रभावकारी है। पिता को कहीं बाहर जाते देख बहुधा बालक उसके पीछे पड़ता है तो पिता मिठाई जैसी कोई प्यारी वस्तु देकर उसे भुला देता है और चला जाता है। वैसे ही परमात्मा के सान्निध्य के लिए लपकती आत्मा के सामने सांसारिक माया का प्रलोभन देकर परमात्मा दोनों के बीच व्यवधान डालता है। अलंकार : रूपक और रूपकातिशयोक्ति।

९९. रोस—रोष, अंतरि—हृदय में। कबीर ने बड़े सुन्दर ढंग से ईश्वर प्राप्ति का रूपक बांधा है। जब आत्मा रूपी बालक ने देखा कि परमात्मा रूपी पिता ने सारहीन खाँड़ में उसे चकमा दिया तो रोष में आकर उसने खाँड़ पटक दी और परमात्मा के विरह में असीम वेदना से तडपता हुआ वही उसी के पास पहुँच गया। अलंकार : रूपकातिशयोक्ति।

१००. नैनां अंतरि—आँखों में, आचरूँ—आँजकर, निरषौं—देखूंगा, देहुगे—दोगे।

१०१. निस—रात, जियरा—प्राण, तलपै—तडपता है।

कै बिरहणि कुं मीच दे, कै आपा दिखलाइ।
आठ पहर का दाझणा, मोपैं सह्या न जाइ ॥१०२॥

बिरहणि थी तौ क्यूँ रहीं, जली न पीव के नालि।
रहु रहु मुगध गहेलड़ी, प्रेम न लाजूं मारि ॥१०३॥

हौं बिरह की लकड़ी, समझि समझि धूँधाऊ।
छूटि पड़ौं या बिरह तैं, जे सारीही जलि जाऊ ॥१०४॥

कबीर तन मन लौं जल्या, बिरह अगनि सूँ लागि।
मृतक पीड़ न जांणई, जांणैगी यहु आगि ॥१०५॥

बिरह जलाई मैं जलौं, जलती जल हरि जाऊँ।
मो देख्यां जल हरि जलै, संतौ कहाँ बुझाऊँ ॥१०६॥

परवति परवति मैं फिरया, नैंन गँवाये रोइ।
सो बूटी पाँऊं नहीं, जातैं जीवनि होइ ॥१०७॥

---

१०२. कै—या तो, मीच—मृत्यु, आपा—अपनापन (परमात्म स्वरूप), दाझणां—दग्ध होना, मोपैं सह्या न जाइ—मुझसे नहीं सहा जाता।

१०३. बिरहणि थी तो क्यूं रही—अगर तुम विरहिणी हो तो (विरह सहती) क्यों जीवित रही, पीव की नालि—प्रियतम के साथ, मुगध—मुग्धा, गहेलड़ी—देर करने वाली, लाजूं मारि—लज्जित करो।

१०४. हौं—मैं, समझि समझि—जल जल कर, छूटि पड़ौं—(दर्शन पाकर) विरह से मुक्त हो जाऊ, या विरह तैं सारी ही जलि जाऊं—या विरहाग्नि में जल-जलकर संपूर्ण रूप से समाप्त हो जाऊं।

१९५. अगनि सूं लागि—अग्नि से लगकर, मृतक—मरा हुआ, पीड़—पीड़ा। अलंकार : रूपक।

१०६. जलती जल हरि जाऊं—जलती हुई अगर मैं गुरु रूपी जल के पास जाऊं; मो देख्यां जल हरि जलै—मुझे जलते देखकर गुरु रूपी जल भी जलने लगता है। संतो कहाँ बुझाऊं—संतजन, मैं इस जलन को कहाँ बुझा पाऊंगी ?
अलंकार : रूपक, यमक और विरोधाभास।

१०७. परवति—पर्वत में, फिर्या—भटकती रही, बूटी—औषधि, जीवनि—संजीवनी।

फाड़ि फुटोला धज करौं, कामलड़ी पहिराउं ।
जिहि जिहि भेषां हरि मिलै, सोइ सोइ भेष कराउं ॥१०८॥

नैंन हमारे जलि गए, छिन छिन लोड़ैं तुझ ।
नाँ तू मिलै न मैं खुसी, ऐसी बेदन मुझ ॥१०९॥

भेला पाया स्रम सौं, भौसागर के मांहि ।
जे छांड़ौं तौ डूबिहौं, गहौं त डसिये बाँह ॥११०॥

---

१०८. फुटोला—रेशमी वस्त्र, धज—धज्जियाँ, कामलड़ी—कम्बल, भेषां—पहनावा, भेष कराउं—पहनावे धारण करूंगी ।

१०९. लोड़ैं—प्रतीक्षा करते रहना, बेदन—वेदना । अलंकार अतिशयोक्ति ।

११०. भेला—बेड़ा, स्रम सें—बड़े परिश्रम से, भौसागर—संसार रूपी सागर, छांड़ौं—छोड़ दूं, गहौं त डसिये बाँह—(प्रेम रूपी बेड़ा मिला जिसपर विरह रूपी भुजंग बैठा हुआ है) उसे पकड़ने पर विरह रूपी भुजंग हाथ को डँस लेगा । कबीर ने विरह दशा की दुविधा की सुन्दर अभिव्यक्ति की है । भवसागर में पड़ी विरहिणी को मुश्किल से प्रेम रूपी बेड़ा प्राप्त हुआ है, जिसपर विरह रूपी भुजंग बैठा हुआ है । उसका आसरा न लेने पर भवसागर में डूब मरेगी और आसरा लेने पर भुजंग काट लेगा । दोनों ओर से भारी दुविधा है । कबीर ने यह समझाया है कि संसार-सागर को पार करने का साधन प्रभु-प्रेम है, किन्तु साधक को उससे लगे विरह को भोगने के लिए हर घड़ी तैयार रहना चाहिए । अलंकार : रूपक, रूपकातिशयोक्ति ।

रैणा दूर विछोहिया, रहु रे संषम झूरि।
देवलि देवलि धाहड़ी, देसी ऊगे सूरि ॥१११॥

सुखिया सब संसार है, खायै अरु सोवै।
दुखिया दास कबीर है, जागै अरु रोवै ॥११२॥

---

१११. रैणां—रात्रि, बिछोहिया—वियुक्त किया, संषम—चक्रवाक, झूरि—बिलख कर, देवलि-देवलि—मंदिर मंदिर, धाहड़ी—बुलंद स्वर में। कवि चक्रवाक से कह रहा है कि रात्रि ने तुझे प्रिय से वियुक्त कर दिया, अब तू घर घर उसके लिए पुकार मचा रहा है, किन्तु तेरी उससे भेंट प्रभात में सूर्य ही कराएगा। अन्योक्ति से यह भाव निकलता है कि आत्मा अज्ञान रूपी रात्रि में प्रियतम परमात्मा से दूर हुई और अब वह मंदिर-मंदिर उनकी खोज में पुकार लगा रही है, किन्तु ज्ञान-सूर्य के उदय के पूर्व उसका परमात्मा से मिलन असंभव है। अलंकार : अन्योक्ति।

११२. 'या निशा सर्व भूतानां तस्यां जर्गात संयमी' से मिलाइये।

४. ग्यान बिरह कौ अंग

कबीर ज्ञानाश्रयी धारा के भक्त कवि थे। उन्होंने प्रभु-प्राप्ति के लिए जीव का ज्ञानी होना आवश्यक माना है। जबतक संसार की क्षणिकता, निस्सारता एवं माया के खोखलेपन का पता नहीं चलता तबतक जीव सांसारिक प्रलोभनों में आकर्षित रहता है। इस मायात्मक संसार की असारता का ज्ञान प्राप्त होते ही उसमें विवेक एवं वैराग्य भावना प्रबल होती है और इससे उसमें अपने पूर्णत्व को प्राप्त करने की अभिलाषा उत्पन्न होती है। अतः किसी सतगुरु से ज्ञान प्राप्त होते ही उसमें प्रभु का विरह जाग उठता है। यह ज्ञान मिश्रित विरह जीव को ब्रह्म की ओर ले जाता है। इसी उद्देश्य से कबीर ने इस अंग का नाम 'ग्यान विरह कौ अंग' रखा है।

कबीर ने जीव को दीपक का रूपक देते हुए बताया कि जब इस दीपक में प्रभु-प्रेम रूपी तेल पाकर ज्ञान ज्योति जलती है तब वासना रूपी पतंग पृथक् नहीं रह पाते, वे एक-एक कर जल मरते हैं। भगवद् प्रेम के अस्त्र से घायल जीव संसार-वृक्ष के नीचे अपनी मृत्यु की कामना लेकर बैठता है। इस प्रेमाग्नि की विलक्षणता यह है कि इस से बाहर धुआं प्रकट नहीं होता, किन्तु इसका अनुभव वही करता है जिसे यह आग लग गयी है, या जिसने यह आग लगायी है। इस आग के जलने पर शरीर का ध्यान नष्ट होता है और योगी समाधिस्थ हो अपने परब्रह्म में विलीन हो जाता है। मायात्मक संसार में रहकर यह जो आग लगायी गयी है उसे देखकर उत्तर-दक्षिण के पंडित आश्चर्य चकित हो उठते हैं। यह ज्ञान ज्योति सद्गुरु ही लगा सकता है और उसकी लगायी ज्ञानाग्नि के प्रज्वलित होने पर जीव का मायात्मक संसार सदा के लिए जल जाता है और आत्मा अपने वास्तविक रूप ब्रह्म में जाकर मिलती है। कबीर ने आत्मा के परमात्मा में विलयन को मछली द्वारा वृक्ष पर चढ़ने का रूपक दिया है, जो नाथसंप्रदाय का प्रभाव है। यहाँ मछली कुण्डलिनी का अप्रस्तुत है। योग-समाधि में कुण्डलिनी जागृत हो उठती है और एक एक करके शरीरस्थ षड्चक्रों को भेद कर ऊर्ध्वगामी बन सहस्रार या ब्रह्मरंध्र में पहुँच जाती है। वहाँ कुण्डलिनी के पहुँचने मात्र से आत्मा अमृतत्व को प्राप्त करती है।

दीपक पावक आंणिया, तेल भी आंण्या संग।
तीन्यूं मिलि करि जोइया, (तब) उड़ि उड़ि पड़ै पतंग ॥११३॥

मार्‌या है जे मरैगा, बिन सर थोथा भालि।
पड़्या पुकारै ब्रिछ तरि, आजि मरै कै काल्हि ॥११४॥

हिरदा भीतरि दौ बलै, धूंवां न प्रकट होइ।
जाके लागी सो लखै, कै जिहि लाई सोइ ॥११५॥

झल ऊठी झोली, खोपरा फूटिम फूटि।
जोगी था सो रमि गया, आसणि रही बिभूति ॥११६॥

अगनि जु लागी नीर मैं, कंदू जलिया झारि।
उतर दक्षिण के पंडिता, रहे बिचारि बिचारि ॥११७॥

---

११३. दीपक—जीवात्मा रूपी दीपक, पावक – अग्नि (ज्ञान ज्योति), तेल—प्रेम रूपी तेल, आंण्या संग—साथ मिलते हैं, जोइया—प्रकाशित होते हैं, पतंग—वासना रूपी पतग। जैसे दीपक तेल से स्निग्ध हो जलता है और पतंग उसमें कूद पड़ मरते हैं वैसे जीवात्मा प्रेम तथा ज्ञान ज्योति से युक्त हो प्रकाशित होती है तब विषय वासनाएं भस्मीभूत हो जाती हैं। अलंकार : रूपकातिशयोक्ति।

११४. बिन सर—बिना बाण के, थोथा भालि—खाली भाले से, ब्रिछ-तरि—वृक्ष के नीचे (संसार वृक्ष)। संसार की वृक्ष रूप में कल्पना गीता की देन है–

ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥–गीता–१५. १.

११५. दौं बलै—अग्नि जलती है, जाकै लागी सो लखै जिसके हृदय में यह अग्नि लगी है, वह अनुभव करता है, जिहि लाई सोइ—जिसने अग्नि लगायी वह जानता है।

११६. झल—अग्नि, झोली—शरीर, खोपरा—खोपड़ी, आसणि—समाधि का आसन, विभूति—भस्म। योगाग्नि के प्रज्वलित होने पर आत्मा परमात्मा में मिल जाती है और समाधि स्थान पर शरीर के जलने से अवशिष्ट भस्म पात्र रह जाता है।

११७. अगनि—ज्ञानज्योति, नीर—मृगजल (माया), कंदू कीचड़, उत्तर दक्षिण के पंडिता—उत्तर से लेकर दक्षिण तक अर्थात् सारे के सारे पंडित, बिचारि सोचते हुए। अलंकार : वीप्सा।

दौं लागी साइर जल्या, पंषी बैठे आइ।
दाधी देह न पालवै, सतगुर गया लगाय ॥११८॥

गुरु दाधा चेला जल्या, बिरहा लागी आगि।
तिणका बपुड़ा ऊबर्या, गलि पूरे कै लागि ॥११९॥

अहेड़ी दौं लाइया, मृग पुकारै रोइ।
जा बन में क्रीला करी, दाझत है बन सोइ ॥१२०॥

पाणीं मांहैं प्रजली, भई अप्रबल आगि।
बहती सलिला रहि गई, मंछ रहे जल त्यागि ॥१२१॥

समंदर लागी आगि, नदियाँ जलि कोइला भई।
देखि कबीरा जागि, मंछी रूषां चढ़ि गई ॥१२२॥

---

११८. दौं लागी—(ज्ञान की) अग्नि लग गयी, साइर—(वासना का) सागर, पंषी—पक्षी (वैराग्य भावना), दाधी देह न पालवै—इस विषय वासनाओं के शरीर का मैं पालन नहीं करूँगा। सतगुर गया लगाय—सतगुरु ज्ञानाग्नि लगाकर गया। अलंकार : रूपका-तिशयोक्ति।

११९. गुरु दाधा—गुरु ने ज्ञान रूपी अग्नि जला दी, बिरहा लागी आगि—शिष्य में प्रभु के प्रति विरहानुभूति उमड़ पड़ी। तिणका बपुड़ा ऊबर्या, गलि पूरे कै लागि—शरीर रूपी तिनके से मुक्त होकर पूर्णपुरुष ब्रह्म में लीन हो गया। अलंकार : रूपकातिशयोक्ति।

१२०. अहेड़ी दौं लाइया—गुरु रूपी आखेटक ने ज्ञानाग्नि जलाई, मृग पुकारै रोइ—जीव रूपी मृग पुकार उठता है। जा बन में क्रीला करी—जिस वन (मायात्मक संसार) में क्रीड़ा करता रहा, दाझत है—जलता है। अलंकार : रूपकातिशयोक्ति।

१२१. पाणीं—माया रूपी जल, अप्रबल—तीव्र, मंछ—जीव रूपी मछली, बहती सलिला रहि गयी—माया रूपी सरिता का प्रवाह रुक गया। अलंकार : रूपकातिशयोक्ति।

१२२. समंदर—संसार रूपी सागर, नदियाँ जलि कोइला भई—वासना की नदियाँ जलकर कोयले के समान नीरस एवं शुष्क हो गयीं, मंछी रूषां चढ़िगई—जीव रूपी मछली वासना रूपी नदियों से पृथक् हो अपने ब्रह्म रूप में लीन हो गयी। अलंकार : रूपकातिशयोक्ति।

९. परचा कौ अंग

इस अंग में कबीर ने आत्मा-परमात्मा के महामिलन की आध्यात्मिक अनुभूति तथा परमात्मा के स्वरूप का परिचय दिया है। परमात्मा अनंत ज्योति स्वरूप है। उसकी ज्योति का वर्णन नहीं किया जा सकता, वह केवल अनुभव-गम्य है। परमात्मा अगम अगोचर है। मनुष्य जब सांसारिक सीमा को पारकर निस्सीम में प्रवेश करता है तब उसे ब्रह्म रूपी कमल प्रफुल्लित दिखाई देगा। इस कमल की बड़ी विचित्रता है—यह बिना मृणाल के तथा बिना जल के विकसित रहता है। यह प्रभु शून्यशिखर में पहुँचने पर प्राप्त होता है। किन्तु शून्य शिखर में पहुँचना दुष्कर है, विरले ही लोग यहाँ पहुँच पाते हैं। यहाँ पहुँचने के लिए हठयोग की साधना करके मूलाधार चक्र पर स्थित सुषुप्त कुण्डलिनी को जागृत एवं ऊर्ध्वमुख बनाना पड़ता है।

हठयोग साधना बलपूर्वक मन की चित्तवृत्ति को रोककर उसे अन्तर्मुखी बना सुषुप्त कुण्डलिनी को उद्‌बुद्ध कर सहस्रार तक पहुँचाने की पद्धति है। अतः हठयोग साधारणतया प्राणनिरोध-प्रधान साधनापद्धति है। सिद्धों के अनुसार 'ह' का अर्थ सूर्य तथा 'ठ' का अर्थ चन्द्र तथा हठयोग का अर्थ है सूर्य-चन्द्र का संयोग। ब्रह्मानंद स्वामी ने सूर्य का अर्थ प्राणवायु तथा चन्द्र का अर्थ अपादान योग मानकर प्राणायाम के द्वारा वायुनिरोध को हठयोग माना है। कुछ अन्य विद्वानों के विचार से सूर्य शरीरस्थ पिंगला नाड़ी को तथा चन्द्र इड़ा नाड़ी को कहा जाता है। इड़ा नाड़ी शरीर की बाईं ओर तथा पिंगला नाड़ी दाईं ओर स्थित है। इन दोनों के मध्य में रीढ़ से मिलकर सुषुम्ना नाड़ी है। इन तीनों को क्रमशः गंगा, यमुना और सरस्वती भी कहा जाता है। पीठ में स्थित मेरुदंड में सुषुम्ना से लगकर सर्पाकार कुण्डलिनी है जो सदा सुषुप्तावस्था में रहती है। मेरुदंड में छह चक्रों की कल्पना की गयी है, जो कमल के आकार के माने गये हैं। गुदा के समीप चार दलों वाला मूलाधार चक्र है और नाभि के पास स्वाधिष्ठान चक्र है, जो छः दल का है। इसके ऊपर दस दल वाला मणिपूर चक्र और हृदय के पास बारह दलों वाला अनाहत चक्र है। कंठ के पास विशुद्धाख्य चक्र है जिसके सोलह दल हैं। भ्रूमध्य में दो दल वाला आज्ञा चक्र है, जिसे त्रिकुटी कहा जाता है। प्राणायाम या योगसाधना के द्वारा सुषुप्तावस्था में पड़ी कुण्डलिनी

को जाग्रत किया जाता है जिससे ऊर्ध्वगति में वह मेरुदंड के छहों चक्रों का भेदन कर अंत में मस्तक में स्थित ब्रह्मरंध्र में पहुँच पाती है। यह ब्रह्मरंध्र इड़ा, पिंगला एवं सुषुम्णा नाड़ियों का संगम स्थान है, इसलिए ब्रह्मरंध्र में त्रिवेणी संगम की कल्पना की गई है। इसे योगियों का दसवां द्वार कहा गया है। शरीर के अन्य नव द्वार सदा खुले रहते हैं, यही द्वार केवल बंद रहता है। साधना के द्वारा कुण्डलिनी के वहाँ पहुँचने पर यह खुलता है। यहाँ सहस्रदल कमल की कल्पना की गयी है। इसलिए इसका दूसरा नाम सहस्रार चक्र भी है। यहाँ शिव-पार्वती का निवास माना गया है, इसलिए यह कैलास नाम से भी प्रसिद्ध है। यहाँ शंकर के मस्तक पर स्थित चन्द्रमा से अमृत की वर्षा होती है। संतसाहित्य में ब्रह्मरंध्र के गगन मंडल, शून्य मंडल, भंवर गुफा, मानसरोवर आदि कई नाम प्रचलित हैं। योग साधना के द्वारा कुण्डलिनी को सहस्रार में पहुंचाने पर योगी अमृत का पान करता है और कुण्डलिनी की ऊर्ध्व गति में स्फोट होता है, जिसे अनहदनाद की संज्ञा दी गई है। योगी बाह्य ध्वनियों से विरत हो केवल अनहद नाद सुनता है और समाधिस्थ दशा में ब्रह्म-साक्षात्कार पाता है।

कबीर ने 'चन्द्र-सूर्य को एके घर लाओ' कहकर हठयोग की प्रक्रिया की ओर संकेत किया है। उन्होंने अपनी साधना को सुरति शब्द साधना की संज्ञा दी है अर्थात् शब्द ब्रह्म रूप (निरति) है और सुरति आत्मारूप। आत्म-साधना के सहारे शब्दब्रह्म में लीन करने की प्रक्रिया को ही सुरति शब्द योग कहा गया है। दूसरे अर्थ में यह इड़ा को पिंगला में लाकर मूलाधार पर स्थित कुण्डलिनी को जगाने की साधना है। यह सच्चे गुरु के मार्गदर्शन से संभव है। कुण्डलिनी जब ब्रह्मरंध्र में पहुँचती है तब मन उन्मनावस्था को पाकर ब्रह्म-ज्योति में लय हो जाता है। इस आध्यात्मिक आनंद का वर्णन कबीर ने खूब किया है। कबीर ने बतलाया है कि मेरा मन पहले सांसारिक माया-मोह में उलझा हुआ था और वह लक्ष्यहीन हो इधर-उधर भटक रहा था। किन्तु ज्ञान सूर्य के उदित होने पर पक्षी रूपी मेरी आत्मा शून्य गगन में उड़ गयी और बिना चोंच के सहस्रदल कमल से स्रवित अमृत जल का पान किया। यह अमृत जल इतना मधुर है कि उसके पान के उपरांत सांसारिक मृगतृष्णा का माया-जल तुच्छ जान पड़ा। यहाँ पहुँच कर आत्मा ने सत्यस्वरूप भगवान को पाकर सच्चा सुख प्राप्त किया, हृदय-सरिता प्रेम रस से भर गया। सारे पाप सहज ही दूर हुए और आत्मा ने अपना वास्तविक स्वरूप पहचान लिया। उसे मालूम हुआ कि वह ब्रह्म ही है। तत्व स्वरूप को पाकर शारीरिक संबंध भूल गया और मन ने ब्रह्म में एकाग्र हो ध्यान लगाया। शून्य मण्डल से स्रवित अमृत जल में स्नान कर मन शांत एवं शीतल हो उठा।

आगे कबीर मायात्मक संसार की असारता एवं क्षणिकता पर भी प्रकाश डालते हैं। मायात्मक अहंभाव ब्रह्म-मिलन में बाधक है। जीव में जब तक अहंभाव रहेगा, वह परमात्मा को नहीं पा सकेगा। यह अहंकार ज्ञान रूपी दीपक के प्रज्वलित होने पर ही दूर होगा। आध्यात्मिक स्थिति का वर्णन करते हुए कबीर का कथन है कि मन ने ब्रह्म-साक्षात्कार कर के स्थिरता पायी तो गगन मंडल में नींव रहित देवालय तथा उसमें निराकार ब्रह्म के दर्शन हुए। उस देवालय में पूजा-आरती के जल-पुष्प सब विद्यमान हैं और मन ही यहाँ का पुजारी है। निरंतर अनहद नाद बजता है और अमृत-निर्झर झरता रहता है। जुलाहा जाति का कबीर शून्य मण्डल स्थित ब्रह्म का सच्चा पारखी बना और वह निर्भय होकर संसार-सागर के पार उतर गया।

कबीर तेज अनंत का, मानौं ऊगी सूरज सेणि।
पति सँगि जागी सुन्दरी, कौतिग दींठा तेणि ॥१२३॥

कौतिग दीठा देह बिन, रवि ससि बिना उजास।
साहिब सेवा मांहि है, बेपरवांही दास ॥१२४॥

पारब्रह्म के तेज का, कैसा है उनमान।
कहिबे कूँ सोभा नहीं, देख्या ही परवान ॥१२५॥

---

१२३. अनन्त का—परमात्मा का, ऊगी—उदित हुई, सेणि—श्रेणी, पति सँगि—पति के साथ (परब्रह्म के साथ), जागी—जाग्रत हुई, सुन्दरी—सुहागिनी (आत्मा), कौतिग—आश्चर्य, दीठा—देखा। कबीर ने अपने को 'राम की बहुरिया' कहा है। अलंकार : उत्प्रेक्षा, रूपकातिशयोक्ति।

१२४. उजास—प्रकाश, निराकार ब्रह्म का दर्शन ऐसा था मानो सूर्य और चंद्र के बिना ही उनके प्रकाश का दर्शन हो। अलंकार : विभावना।

१२५. पारब्रह्म—परब्रह्म, उनमान—अनुमान, देख्या ही परवान—परब्रह्म का तेज अनुमान का विषय नहीं है, वह देखने और अनुभव करने की वस्तु है। किसी वस्तु का अनुमान करने के लिए उसका मूर्त होना आवश्यक है, किन्तु निराकार अमूर्त ब्रह्म अनुमान से प्राप्त नहीं है। कबीर ने एक जगह ब्रह्मानुभूति को गूंगे का गुड़ कहा है।

अगम अगोचर गमि नहीं, तहाँ जगमगै जोति।
जहाँ कबीरा बंदिगी, (तहाँ) पाप पुन्य नहीं छोति ॥१२६॥

हदे छाड़ि बेहदि गया, हुआ निरंतर बास।
कवल ज फूल्य फूल बिन, को निरषै निज दास ॥१२७॥

कबीर मन मधकर भया, रह्या निरंतर बास।
कवल ज फूल्या जलह बिन, को देखै निज दास ॥१२८॥

अंतरि कवल प्रकासिया, ब्रह्मवास तहाँ होइ।
मन भवरा तहाँ लुबधिया, जांणैगा जन कोइ ॥१२९॥

---

१२६. अगम—अगम्य, अगोचर—अदृश्य, गमि नहीं – जहाँ तक गति नहीं, जोति—ज्योति, बंदिगी—श्रद्धावनत, छोति—छुआछूत। अलंकार : विभावना।

१२७. हदे छाड़ि—सांसारिक संबंध की सीमा छोड़कर, बेहदि गया—निस्सीम में गया या निस्सीम की साधना में तल्लीन हुआ, (कुण्डलिनी को जागृत कर ऊर्ध्वोन्मुखी बना ब्रह्मरंध्र तक पहुँचाया), कवल ज फूल्या फूल बिन—मृणाल के बिना ही एक कमल प्रफुल्लित दिखाई देता है (ब्रह्म की ओर संकेत), निरषै—देखता है। अलंकार : विभावना और रूपकातिशयोक्ति।

१२८. मधकर— मधुकर (भ्रमर) जलह—जल बिना जल के जो ब्रह्मरूपी कमल प्रफुल्लित है, उसके दिव्य सौन्दर्य रूपी रसपान के लिए मधुकर वृत्ति अपनाने लगा। अलंकार : विभावना, रूपक, रूपकातिशयोक्ति।

१२९. अंतर कवल प्रकासिया—शरीर के भीतर ब्रह्मरंध्र रूपी सहस्रदल विकसित हुआ, लुबधिया—लुब्ध हुआ, जाणैगो जन कोइ—भगवद् भक्त संत ही इस बात को जानता है। हठयोग के अनुसार मस्तक ब्रह्मरंध्र है, जो सहस्र दलवाले कमल के आकार का माना गया है। वह बंद रहता है, जिसे योगसाधना से खोला जाता है। इसी सहस्रदल में ब्रह्म का वास है। यहीं से अमृतरस की वर्षा होती है, जिसे योगी पाता है।

सायर नाहीं सीप बिन, स्वाति बूँद भी नाहिं।
कबीर मोती नीपजैं, सुन्नि सिषर गढ़ माँहि ॥१३०॥

घट माँहैं औघट लह्या, औघट माँहैं घाट।
कहि कबीर परचा भया, गुरु दिखाई बाट ॥१३१॥

सूर समांणां चंद मैं, दहूँ किया घर एक।
मनका च्यंता तब भया, कछू पूरबला लेख ॥१३२॥

---

१३०. सायर—सागर, नीपजैं—उत्पन्न होता है, सुन्नि सिषर गढ़—ब्रह्मरंध्र या गगन मंडल। इसे शून्य मण्डल भी कहा जाता है। यह शून्य मण्डल कुण्डलिनी का शीर्षभाग है। इसे गोरखनाथ ने जीवन्मुक्त का आवास माना है। यहाँ योगी ईश्वर के दर्शन से प्राप्त आध्यात्मिक आनंद रूपी मोती पाता है। अलंकार: विभावना, रूपकातिशयोक्ति।

१३१. घट माँहैं—हृदय में, औघट—विचित्र ब्रह्म, घाट—तट (यहाँ कबीर का तात्पर्य संभवतः ब्रह्मरंध्र से है। शिवपार्वती का निवास-स्थान होने से इसे कैलास और मानसरोवर भी कहा जाता है। मानसरोवर में निर्लिप्त चित्त रूपी हंस निवास करता है। पूरे दोहे का यह अर्थ होगा कि गुरु के द्वारा दर्शाये गये योग साधना के मार्ग पर बढ़ते हुए मेरा ब्रह्म साक्षात्कार हुआ। मैं ने अपने हृदय में ही ब्रह्म को प्राप्त किया और इसी ब्रह्म में मैं अपना लक्ष्य या गन्तव्य मार्ग ढूँढ़ पाया। (कुछ विद्वानों के अनुसार ब्रह्मरंध्र हृदय में ही है।

१३२. सूर—सूर्य नाड़ी (पिंगला), चंद—चंद्रनाड़ी (इड़ा), दहूँ किया घर एक—इड़ा तथा पिंगला ने मिलकर सुषुम्ना को अपना घर बना दिया, मन का च्यंता—मन जिस के लिए व्याकुल था, अब भया—अब पूर्ण हुआ, पूरबला लेख—पूर्व जन्म का सुकृत।

विशेष: हठयोग प्राणनिरोधप्रधान साधना पद्धति है और सिद्धों के अनुसार इड़ा और पिंगला को रोककर सुषुम्ना नाड़ी के मार्ग से प्राणवायु का संचार करना ही हठयोग है। इस प्राणवायु के धक्के से सुषुम्ना से लगी सर्पाकार कुण्डलिनी ऊर्ध्वमुखी होती है। इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना का संगम ब्रह्मरंध्र में होता है, जिसे त्रिवेणी संगम भी कहा जाता है।

हृद छाड़ि बेहृद गया, किया सुन्नि असनान ।
मुनि जन महल न पावई, तहाँ किया विश्राम ॥१३३॥

देखौ कर्म कबीर का, कछु पूरब जनम का खेल ।
जाका महल न मुनि लहैं, सो दोसत किया अलेख ॥१३४॥

पिंजर प्रेम प्रकासिया, जाग्या जोग अनंत ।
संसा खूँटा सुख भया, मिल्या पियारा कंत ॥१३५॥

प्यंजर प्रेम प्रकासिया अंतरि भया उजास ।
मुख कस्तूरी महमहीं, बाणीं फूटी बास ॥१३६॥

मन लागा उन मन्न सौं, गगन पहुँचा जाइ ।
देख्या चद बिहूँणां चांदिगां, तहां अलख निरजन राइ ॥१३७॥

मन लागा उन मन सौं, उन मन मनहि बिलग ।
लूँण बिलगा पाणियां, पांणीं लूण बिलग ॥१३८॥

---

१३३. सुन्नि असनान—शून्य महल (ब्रह्मरंध्र) में पहुँचकर अमृत स्नान करना । शून्यमहल में ही प्रयाग संगम की कल्पना है (इड़ा रूपी गंगा, पिंगला रूपी यमुना और सुषुम्ना रूपी सरस्वती का संगम स्थान)

१३४. दोसत किया—दोस्ती की, अलेख—परमात्मा ।

१३५. पिंजर—पिंजड़ा, संसा खूँटा—संशय मिट गया, पियारा कंत—प्रियतम परब्रह्म ।

१३६. प्यंजर—शरीर रूपी पिंजडा, अंतरि—अन्तर (हृदय में), उजास—प्रकाश, महमहीं—महकती है, बांणी—वाणी, बास—सुगंधि ।

१३७. उन मन्न—उन्मनी अवस्था, गगन—हठयोगियों का गगन मंडल या शून्य मंडल, बिहूँणां—बिना, चांदिणां—चाँदनी, अलख-निरंजन—निराकार ब्रह्म । अलंकार : विभावना ।

१३८. मन लागा उन मन सौं—मन योग की उन्मनावस्था में लग गया । उनमन मनहि बिलग—इस उन्मनावस्था में मन पहले के सांसारिक विषय वासनाओं में आकृष्ट मन से पृथक् है । लूँण बिलगा-पाणियां—लवण (नमक) पानी में लय हो गया, पाणीं लूँण बिलग—पानी लवण में लय हो गया । अलंकार : यमक, अर्थान्तरन्यास ।

पांणी ही तैं हिम भया, हिम ह्वै गया बिलाइ।
जो कुछ था सोई भया, अब कछू कह्या न जाइ ॥१३९॥

भली भई जु भै पड्या, गई दसा सब भूलि।
पाला गलि पांणी भया, ढुलि मिलिया उस कूलि ॥१४०॥

चौहटै च्यंतामणि चढ़ी, हाडी मारत हाथि।
मीरां मुझसूं मिहर करी, इब मिलौं न काहू साथि ॥१४१॥

---

१३९. पांणी -पानी (ब्रह्म) हिम—बरफ (जीव), हिम ह्वै गया बिलाइ—हिम तरल होकर। कबीर ने अद्वैतवाद के अनुसार यह सिद्ध किया है कि जिस प्रकार पानी ही से बरफ बनता है और बरफ पिघलकर फिर पानी बनता है, वैसे ब्रह्म से जीव बनता है और जीव मृत्यु को पाकर अपने वास्तविक रूप ब्रह्म में विलय हो जाता है। अलकार : अन्योक्ति।

१४०. भली भई—अच्छी हुई, भै पड्या—सांसारिक मृत्यु भय से अवगत हुआ, पाला—बरफ, गलि—गलकर, पांणी—पानी (ब्रह्म), ढुलि—ढुलककर, कूलि—कूल (ब्रह्म)। यहाँ भी बरफ जीवात्मा तथा पानी ब्रह्म का प्रतीक है। जीवात्मा अपने शरीर के नष्ट होने पर परमात्मा में विलीन हो जाता है। अलंकार : रूपकातिशयोक्ति।

१४१. चौहटै—(संसार रूपी) चौराहे, च्यंतामणि—चिन्तामणि (यहाँ जीवात्मा से तात्पर्य है), हाडी—(माया रूपी) दलाल, मीरां—धार्मिक आचार्य (गुरु), मिहर करि—कृपा करके, काहू साथि—कोई साथी (विषय वासनाएं)।

तात्पर्य :—संसार रूपी बाजार में जीवात्मा रूपी चिन्तामणि बिक्री के लिए लाकर रखी गयी है। माया रूपी दलाल ने देखते ही उस पर हाथ मारा है। अर्थात् इस संसार में आते ही जीवात्मा को माया मोहित कर वशीभूत कर लेती है। अगर गुरु न मिले होते तो जीवात्मा सस्ते में बिक जाता था। किन्तु गुरु ने कृपा करके ज्ञानोपदेश देकर उसे माया मोह से बचाया और आगे वह सांसारिक वासना रूपी साथियों की संगति नहीं करेगा। अलंकार : रूपकातिशयोक्ति।

पंषि उडाणीं गगन कूं, प्यंड रह्या परदेस।
पांणी पीया चंच बिन, भूलि गया यहु देस ॥१४२॥

पंषि उड़ानीं गगन कूं, उड़ी चढ़ीं असमान।
जिहिं सर मंडल भेदिया, सो सर लागा कान ॥१४३॥

सुरति समांणी निरति मैं, निरति रही निरधार।
सुरति निरति परचा भया, तब खुले स्यंभ दुवार ॥१४४॥

---

१४२. पंषि उडानीं गगन कूं—कुण्डलिनी रूपी पक्षी शून्य गगन की ओर उड़ा, प्यंड—पिंड (शरीर), चंच—चोंच; भूलि गया यहु देस—आध्यात्मिक आनद का अनुभव करते ही जीवात्मा अपने विकारों का संसार भूल बैठा। अलंकार : रूपकातिशयोक्ति।

१४३. पंषि उड़ानीं गगन को—सर्पाकार कुण्डलिनी रूपी पक्षी गगन (ब्रह्मरंध्र) की ओर उड़ा, उड़ी चढ़ी असमान—कुण्डलिनी मूलाधार से उड़कर बीच में स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, आन हत, विशुद्धाख्य और आज्ञा नामक चक्रों को भेदकर गगन मंडल में पहुँच गयी। जिहि सर मंडल भेदिया—जिस उपदेश रूपी बाण के प्रभाव से षड्चक्रों का भेदन संभव हुआ। अलंकार : रूपकातिशयोक्ति।

१४४. सुरति—पिंड (साधना पक्ष में इड़ा नाड़ी), निरति—ब्रह्माण्ड (साधना पक्ष में पिंगला नाड़ी), निरति रही निरधार—ब्रह्माण्ड-आधार रहित है, सुरति निरति परचा भया—पिंड और ब्रह्माण्ड का मेल होता है (साधना पक्ष में इड़ा और पिंगला ब्रह्मरंध्र में जाकर मिलती हैं), स्यंभ दुवार—शंभु का द्वार (ब्रह्मरंध्र)। कबीर की सुरत साधना में हठयोग का महत्वपूर्ण स्थान है। इड़ा और पिंगला जब ब्रह्मरंध्र में मिल जाती हैं तब ब्रह्मरंध्र खुल जाता है, अन्यथा वह बंद माना जाता है। इसी ब्रह्मरंध्र में प्रलय पुरुष का निवास माना जाता है। अतः इड़ा-पिंगला के एकीकरण से शिव का दर्शन होता है।

सुरति समांणीं निरति मैं, अजपा मांहैं जाप।
लेख समांणा अलेख मैं; यूं आपा मांहैं आप ॥१४५॥

आया था संसार मैं, देषण कौं बहु रूप।
कहै कबीर संत हौ, पड़ि गया नजरि अनूप ॥१४६॥

अंक भरे भरि भेटिया, मन मैं नांहीं धीर।
कहै कबीर ते क्यूं मिलैं, जब लग दोइ सरीर ॥१४७॥

सचु पाया सुख ऊपनां, अरु दिल दरिया पूरि।
सकल पाप सहजैं गये, जब सांई मिल्या हजूरि ॥१४८॥

धरती गगन पवन नहीं होता, नहीं तोया नहीं तारा।
तब हरि हरि के जन होते, कहै कबीर विचारा ॥१४९॥

---

१४५. सुरति—आत्मा, निरति—ब्रह्म, अजपा—मौन ध्यान, जाप—सोऽहम् का ध्यान और जप, लेख—ज्ञेय (जीवात्मा), अलेख—निर्गुण ब्रह्म, आपा—ब्रह्म, आप—जीवात्मा। अर्थ : जीवात्मा परब्रह्म में, सोऽहम् का जप करने वाला जीव अजपा के देवता स्वरूप अर्धनारीश्वर शिव में, व्यक्त अव्यक्त में और जीवात्मा ब्रह्म में समा गयी। साधना पक्ष में इड़ा पिंगला में मिल गयी जिससे नाम स्मरण मौन ध्यान में परिणत हो गया। इस स्थिति में साकार जीवात्मा निराकार परमात्मा में समा गयी। इस प्रकार जीवात्मा और परमात्मा का मिलन हो गया।

१४६. देषण—देखने, पड़ि गया नजरि अनूप—अनुपम ब्रह्म नज़रों में पड़ा ब्रह्म के दर्शन हुए), अलंकार : विभावना।

१४७. अंक भरे भरि भेटिया— प्रिय से कस-कस कर आलिंगनबद्ध हुआ, जब लग—जब तक। कबीर ने बताया है कि द्वैत भावना प्रिय मिलन या एकाकार परिणति में बाधक है। अलंकार : वृत्यनुप्रास।

१४८. सचु पाया—सत्य स्वरूप भगवान की प्राप्ति हुई, सुख ऊपनां—सुख उत्पन्न हुआ, दिल दरिया पूरि— हृदय रूपी सरिता (प्रेमानंद से) भर गयी। अलंकार : रूपक।

१४९. तोया—पानी, हरि के जन—भगवत् भक्त। कबीर का कहना है कि जब पंचभूत निर्मित कोई भी सांसारिक वस्तु नहीं रहेगी तब भी भगवान और भक्त रहेंगे।

जा दिन कृतमनाँ हुता, होता हट न पट।
हुता कबीरा राम जन, जिनि देखै औघट घट ।।१५०।।

थिति पाई मन थिर भया, सतगुर करी सहाइ।
अनिन कथा तनि आचरी, हिरदै त्रिभुवन राइ ।।१५१।।

हरि संगति सीतल भया, मिटी मोह की ताप।
निस बासुरि सुख निध्य लह्या, जब अंतरि प्रगट्या आप ।।१५२।।

तन भीतरि मन मानियां, बाहरि कहा न जाइ।
ज्वाला तैं फिरि जल भया, बुझी बलंती लाइ ।।१५३।।

तत पाया तन बीसऱ्या, जब मनि धरिया ध्यान।
तपनि गई सीतल भया, जब सुनि किया असनान ।।१५४।।

---

१५०. कृतम नां हुता—कृत्रिम मायात्मक संसार नहीं था, होता हट न पट—जब मायात्मक संसार रूपी हाट और जीव जाल रूपी पर्ण्य वस्त्र न थे (अर्थात् संसार और उसका आदान-प्रदान नहीं था), हुता—था, जिनि देखै औघट घट – जिन्होंने अपने हृदय में ब्रह्म का दर्शन किया।

१५१ थिति पाई—योगसाधना में एकाग्रता (ध्यान) प्राप्त हुई, मन थिर भया – बाह्य प्रलोभनों से विरत मन ध्यानावस्था में शान्त हुआ, अनिन कथा—अनन्य कथा (ईश्वरीय प्रेम), तनि-आचरी—तन ने आचरण किया, हिरदै त्रिभुवन राइ—हृदय में त्रिलोकनाथ ब्रह्म का दर्शन हुआ।

१५२. हरि संगति सीतल भया—प्रभु का मिलन पाकर मन शान्त हो गया, मिटी मोह की ताप—सांसारिक माया मोह जनित ताप मिट गया, निस-बासरि—रात दिन, सुख निध्य लह्या—सुख संपत्ति प्राप्त हुई, जब अंतरि प्रगट्या आप—जब प्रभु का दिव्य दर्शन हृदय में हुआ। आध्यात्मिक स्थिति का वर्णन है।

१५३. मन मानिया—मन ने ब्रह्मानंद पाया, ज्वाला तैं फिरि जल-भया—मन की माया जनित आसक्ति की ज्वाला प्रभुदर्शन के साथ ही शांत हुई और जल के समान शीतलता का अनुभव हुआ, बुझी बलंती लाई—प्रज्वलित आग (मोहासक्ति की) बुझ गयी।

१५४. तत – ब्रह्मतत्व, बीसऱ्या – भूल गया, तपनि सांसारिक ताप, सुनि किया असनान—शून्य मंडल से झरती अमृत धारा में स्नान किया।

जिनि पाया तिनि सू गह गह्या, रसनां लागी स्वादि ।
रतन निराला पाईया, जगत ढंडौल्या बादि ॥१५५॥

कबीर दिल स्याबति भया, पाया फल संम्रथ्य ।
सायर मांहि ढंढोलतां, हीरै पड़ि गया हथ्य ॥१५६॥

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नांहि ।
सब अंधियारा मिटि गया, जब दीपक देख्या मांहि ॥१५७॥

जा कारणि मैं ढूंढता, सनमुख मिलिया आइ ।
धन मैली पिव ऊजला, लागि न सकौं पाइ ॥१५८॥

जा कारणि मैं जाइ था, सोई पाई ठौर ।
सोई फिरि आपण भया, जासूं कहता और ॥१५९॥

कबीर देख्या एक अंग, महिमा कही न जाइ ।
तेज पुंज पारस धणीं, नैनूं रहा समाइ ॥१६०॥

---

१५५. जिनि पाया तिनी सू गह गह्या—जिस भक्त ने भगवान को पाया, वह उसे बलपूर्वक अपने पास ही रखता है अर्थात् उसे हाथ से जाने नहीं देता, रसनां– जिह्वा, रतन निराला– विचित्र रत्न (ब्रह्म), ढंडौल्या बादि व्यर्थ ढिंढोरा पीटता है ।

१५६. स्याबति भया—स्थिर हुआ, संम्रथ्य—समृद्ध (भरपूर), सायर—सागर, ढढ़ीलतां—ढूँढ़ता हुआ, हीरै पडि गया हथ्य—हाथ में ब्रह्म रूपी हीरा पड़ गया । अलकार : रूपकातिशयोक्ति ।

१५७. मैं —अह, दीपक—ज्ञान दीपक । अलंकार : रूपकातिशयोक्ति ।

१५८. जा कारणि मैं ढूंढ़ता—जिस कारण (ब्रह्म के लिए) मैं ढूंढ़ता रहा, सनमुख—सामने, धन – स्त्री (जीवात्मा), मैली– पाप पंक में सनी हुई; पिव ऊजला—प्रियतम ब्रह्म शुद्ध, पवित्र एवं प्रकाशमय है, लागि न सकौं पाइ—(पाप के मैल के कारण प्रकाशमय ब्रह्मके) चरणों में नहीं लग सकी ।

१५९. जा कारणि मैं जाइ था—मैं जिस ब्रह्म की खोज में बाह्य संसार में तीर्थस्थानों, पुण्य स्थानों में भटक रहा था । सोई पाई ठौर—उसे अपने स्थान में (जीव के हृदय में) पाया, आपण भया—अपना हुआ, जासूं कहता ओर—जिसे भिन्न कहता था ।

१६०. तेज पुंज—सौन्दर्यधाम, धणीं—समृद्ध, नैनूं रहा समाइ—नेत्रों में समा गया ।

मानसरोवर सुभर जल, हंसा केलि कराहिं।
मुकताहल मुकता चुगैं, अब उड़ि अनत न जाहिं ॥१६१॥

गगन गरजि अंमृत चवै, कदली कवल प्रकास।
तहाँ कबीरा बंदिगी, कै कोई निज दास ॥१६२॥

नींव बिहूँणां देवरा, देह बिहूंणां देव।
कबीर तहां विलंबिया, करे अलष की सेव ॥१६३॥

देवल मांहैं देहुरी, तिल जेहैं बिसतार।
मांहैं पाती मांहि जल, मांहैं पूजणहार ॥१६४॥

कबीर कवल प्रकासिया, ऊग्या निर्मल सूर।
निस अंधियारी मिटि गई, बागे अनहद नूर ॥१ ५॥

---

१६१. मानसरोवर—मन रूपी मानसरोवर, हंसा—हंस, मुक्तात्मा; मुकता—मोती, मुक्ति; अनत—अन्यत्र। हृदय रूपी मानसरोवर भक्ति जल से परिपूर्ण है जहाँ जीवन्मुक्त रूपी हंस मुक्ति रूपी मोती चुगते हैं। अत: अब वे अन्यत्र और किसी सांसारिक वस्तु के मोह में ईश्वर विमुख हो नहीं जाना चाहते। अलंकार : श्लेष, रूपकातिशयोक्ति।

१६२. गगन—शून्य मण्डल, गरजि—अनहद नाद रूपी गर्जना, चवै—चू पड़ता है, कदली कवल प्रकास—मेरुदड रूपी कदली के ऊपर सहस्रदल कमल प्रफुल्लित हो रहा है, बंदिगी—श्रद्धावनत, कोई-निज दास—कोई प्रभु भक्त। अलकार : रूपकातिशयोक्ति।

१६३. नींव बिहूँणां देवरा—नींव रहित देवालय, देह विहूँणां देव - शरीर रहित देव (निराकार ब्रह्म), विलबिया— विश्राम किया, अलष— अलख ब्रह्म।

१६४. देहुरी —देव प्रतिमा, तिल जेहै विसतार—तिल के समान विस्तार, मांहैं— उसी में, पाती—पत्ते, पूजणहार—पुजारी।

१६५. कंवल— सहस्रदल कमल, ऊग्या— उदित हुआ, सूर—ज्ञान सूर्य, निस अंधियारी—रात्रि का अंधकार, बागे अनहद नूर—अनहद-नाद बज उठा। कुण्डलिनी के ऊर्ध्व गमन से जो स्फोट होता है, उसे अनहद नाद कहते हैं।

अनहद बाजै नीझर झरैं, उपजै ब्रह्म गियान।
आबगति अंतरि प्रगटै, लागै प्रेम धियान ॥१६६॥

आकासे मुखि औंधा कुवाँ, पाताले पनिहारि।
ताका पांणीं को हंसा पीवै, बिरला आदि बिचारि ॥१६७॥

सिव सकती दिसि कौंण जुजोवै, पछिम दिसा उठै धूरि।
जल में स्यंघ जु घर करै, मछली चढ़ै खजूरि ॥१६८॥

अमृत बरिसै हीरा निपजै, घंटा पड़ै टकसाल।
कबीर जुलाहा भया पारखू, अनभै उतऱ्या पार ॥१६९॥

ममिता मेरा क्या करै, प्रेम उघाड़ीं पौलि।
दरसन भया दयाल का, सूल भई सुख सौड़ि ॥१७०॥

---

१६६. नीझर झरै—अमृत का निर्झर झरता है, गियान—ज्ञान, आबगति—अमृत, धियान—ध्यान।

१६७ आकासे—शून्य मंडल में, मुखि औंधा कुवां—ब्रह्मरंध्र के खुलते ही अमृतरस झरता है। इसलिए ब्रह्मरंध्र को उलटा कुवां या कूप कहा जाता है। पाताले पनिहारि—गुदा के पास मूलाधार चक्र या पाताल है; ताका पांणीं—ब्रह्मरंध्र से निसृत अमृतरस, हंसा—मुक्तात्मा। मूलाधार चक्र में स्थित कुण्डलिनी को शून्य मंडल तक पहुँचाकर जो जीवन्मुक्त होता है, वही ब्रह्मरंध्र रूपी उलटे कुए से झरने अमृतरस का पान कर सकता है।

१६८. सिव सकती दिस—शिव और शक्ति की दिशा (गगन मंडल या कैलाश का भाग), जुजोवै—देखता है, पछिम दिसा उठै धूरि—जिस पश्चिम दिशा की ओर मुख करके मुल्ला नमाज पढ़ता है, वहाँ धूल उडती है. जलमें ब्रह्मरंध्र से झरते अमृतरस में या उलटे कुए के जल में, स्यंघ—सिंह, मन; मछली चढ़ै खजूरि—कुण्डलिनी रूपी मछली को सहस्रारचक्र रूपी खजूर वृक्ष पर जो पहुँचाता है। अलंकार : रूपकातिशयोक्ति।

१६९. निपजैं—उत्पन्न होता है, घंटा – अनहद का नाद; पारखू—पारखी, अनभै– निर्भय; उतऱ्या पार—संसार सागर के पार उतरा।

१७०. ममिता—ममता (माया-मोह), पौलि—पोल (रहस्य), दससन—ब्रह्म दर्शन, दयाल—दयालु भगवान, सूल—शूल (काँटा), सौड़ि—लिहाफ।

६. रस कौ अंग

प्रस्तुत अंग में कबीर ने ब्रह्मानंद के अनुभव, स्वरूप एवं उसके प्रभाव का विशद वर्णन किया है। तीनों लोकों में ब्रह्मानंद की समता कोई वस्तु नहीं कर सकती। यही वह वस्तु है जिसके सेवन मात्र से सांसारिक आवागमन के सारे कष्ट दूर हो जाते हैं और इसके आस्वादन के बाद दुबारा संसार चक्र में पड़ने की इच्छा नहीं रहती। किन्तु प्रेमरस का पान करने का सौभाग्य विरले ही व्यक्ति प्राप्त करते हैं, यह पाना कठिन है; जो साधक साधना की वेदी पर अपने मस्तक की दक्षिणा चढ़ाता है, वही इसे प्राप्त करता है। एक बार इस रस का पान करने पर उसकी जो खुमारी चढ़ती है, वह कभी दूर नहीं होती, साधक उसी में झूमता फिरता रहता है और वह अपने ऐहिक अस्तित्व को विस्मृत कर बैठता है। उसकी प्राप्ति पर साधक अपने अहं भाव को तिलांजलि देता है और सांसारिक आशाओं से विरत हो स्थितप्रज्ञ बन बैठता है और जीवन्मुक्त कहलाता है। इस प्रेमरस की सर्वाधिक विशेषता यह है कि उसके पान से कभी तृप्ति नहीं होती; ज्यों ज्यों सेवन होता है, त्यों त्यों और और पीने की प्यास लगी रहती है। यह एक रसायन है, जो अन्य सभी रसायनों से पौष्टिक, लाभप्रद एवं जीवन दायक है। यही नहीं, इसका कण भी हृदय-घट में पहुँच जाए तो सारा शरीर ही सुवर्णमय हो भासित होगा। यह सारे कालुष्य एवं पाप से साधक को मुक्त करता है। अतः जीव को चाहिए कि वह इस रसायन की प्राप्ति के लिए साधना करे।

कबीर हरि रस यौं पिया, बाकी रही न थाकि।
पाका कलस कुँभार का, बहुरि न चढ़ई चाकि ॥१७१॥

---

१७१. हरिरस—भक्ति रस (प्रेमानंद), थाकि—थकान, पाका कलस—पकाया हुआ घड़ा, कुँभार—कुम्भकार (कुम्हार), बहुरि—दुबारा, चाकि—चाक। कबीर का कथन है कि जिसने प्रभु के प्रेम रस को पी लिया है, उसकी थकान शेष नहीं रहती। इसे सिद्ध करने के लिए उदाहरण के रूप में उनका कहना है कि कुम्भकार का पकाया हुआ घड़ा दुबारा चाक पर नहीं चढ़ाया जाता। वैसे ही प्रेमरस का आस्वादन करने के उपरांत जीवात्मा आवागमन के चक्रों में नहीं पड़ती। अलंकार : अर्थान्तरन्यास।

राम रस इन प्रेम रस, पीवत अधिक रसाल।
कबीर पीवण दुलभ है, मांगै सीस कलाल ॥१७२॥

कबीर भाठी कलाल की, बहुतक बैठे आइ।
सिर सौंपे सोई पिवै, नहीं तौ पिया न जाइ ॥१७३॥

हरि रस पीया जांणिये, जे कबहूँ न जाइ खुमार।
मैमंता घूंमत रहै, नांही तन की सार ॥१७४॥

मैमंता तिण नां चरै, सालै चिता सनेह।
बारि जु बांध्या प्रेम कै, डारि रह्या सिरि षेह ॥१७५॥

मैमंता अविगत रता, अकलप आसा जीति।
राम अमलि माता रहै, जीवतर मुकति अतीति ॥१७६॥

---

१७२. रसाइन—रसायन रसाल—मधुर, पीवण दुलभ है—पीना कठिन है, कलाल—शराब बेचने वाला (यहाँ सद्गुरु)। प्रेमरस पीने के लिए सर्वस्व त्याग देना पड़ता है। अलंकार : रूपक, रूपकातिशयोक्ति और वृत्यनुप्रास।

१७३ भाठी—भट्टी, बहुतक—बहुत से (साधक), सिर सौंपे सोई पिवै—जो साधना की वेदी पर शीश रख देता है वही पीता है। अलंकार : रूपकातिशयोक्ति।

१७४. जांणिये—समझिये, कबहूँ—कभी भी, खुमार—नशा, मैमंता—मस्त हाथी, नांही तन की सार—शरीर की चिन्ता नहीं रहती।

१७५. मैमंता—मस्त हाथी, तिण—तृण, सालै चिता सनेह—प्रेम की चिता सालती है, षेह—धूल। अलंकार : अन्योक्ति।

१७६. मैमंता—मदमत्त साधक, अविगत—ब्रह्म, रता—तल्लीन, अकलप—संकल्प-विकल्प रहित, आसा जीति—सांसारिक आशाओं को वशीभूत करके, अमलि—नशा, माता रहै—मस्त रहता है। गीता में भगवान कृष्ण ने अर्जुन को स्थितप्रज्ञ का लक्षण समझाया है—

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थित प्रज्ञस्तदोच्यते ॥ गीता २/५५

जिहि सर घड़ा न डूबता, अब मैंगल मलि मलि न्हाइ।
देवल बूड़ा कलस सूँ, पंषि तिसाई जाइ ॥१७७॥

सवै रसांइण मैं किया, हरि सा और न कोई।
तिल इक घट मैं संचरै, तौ सब तन कंचन होइ ॥१७८॥

---

१७७. जिहि सर घड़ा न डूबता —(पहले सांसारिक भोगों में लिप्त रहने समय) जिस हृदय रूपी सरोवर में प्रभु भक्ति रूपी पानी इतना कम था कि मन रूपी घट भी डूब नहीं पाता था; अब मैंगल मल मल न्हाई—अब भगवद् भक्ति रूपी जल के आधिक्य से आध्यात्मिक प्रेमरस में मस्त साधक अपने शरीर को मल मल कर स्नान कर रहा है; देवल बूड़ा कलस सूं—उसी भक्तिरस के जल में देवालय (ब्रह्मरंध्र) कलश सहित (ऊपरितल तक) डूब गया (अर्थात् जीव आपादचूड़ भक्ति में तन्मय है); पंषि तिसाई जाइ—(फिर भी) आत्मा रूपी पक्षी प्रेमरस के लिए तृषित है (अर्थात् साधक आत्मा जितनी भी प्रेमरस में तन्मय होती जाए उतनी ही और और तन्मय होना चाहती है) । बिहारी का प्रसिद्ध दोहा है—

या अनुरागी चित्त की, गति समुझै नहिं कोय।
ज्यों ज्यों बूड़ै श्याम रंग, त्यौं त्यौं उज्जल होय ॥
अलंकार : रूपकातिशयोक्ति, विषम, वीप्सा।

१७८. रसांइण—पारद आदि धातुओं से तैयार किये गये भस्म से बनी अनेक प्रकार की औषधियाँ; मैं किया—मैं ने (सब रसायनों का) प्रयोग किया, तिल इक—रत्ती भर, कंचन होइ—सुवर्णमय हो जाते हैं। अलंकार : असंगति।

७. लांबि कौ अंग

इस अंग में आत्मा और परत्मात्मा के मम्बन्ध को भारतीय दार्शनिक दृष्टि से समझाया गया है। आत्मा तथा परमात्मा को बूंद और समुद्र के प्रतीकों द्वारा समझाया गया है और बताया गया है कि जीवात्मा परमात्मा का अंश मात्र है, पृथक् अस्तित्व रखते समय वह जीव है और पृथकत्व के समाप्प होते ही वह परमात्मा है। जब जीवात्मा परमात्मा में विलीन हो जाती है तब उसका सम्पूर्ण पार्थक्य मिट जाता है और परब्रह्म स्वरूप बन जाती है, जैसे कि बूंद के समद्र में जा मिलने पर उसको पृथक् पहचाना नहीं जा सकता। बूंद तुल्य आत्मा की सर्वाधिक महत्ता इसमें है कि वह अपने में—अपने हृदय में परमात्मा को धारण किये हुए है। जब जीवात्मा संसार से विरत हो परमात्मा की ओर उन्मुख होती है तब वह भक्ति रस का अमृत पीती है और एक बार उसका अनुभव करने पर फिर दूसरी कोई वस्तु उसे प्रिय नहीं लगती, उसमें भक्तिरस की तृषा प्रज्वलित होती है।

काया कमंडल भरि लिया, उज्जल निर्मल नीर।
तन मन जोबन भरि पिया, प्यास न मिटी सरीर॥१७९॥

मन उलट्या दरिया मिल्या, लागा मलि मलि न्हांन।
थाहत थाह न आवई, तूँ पूरा रहिमान॥१८०॥

---

१७९. काया कमंडल—शरीर रूपी कमंडल, उज्ज्ल निर्मल नीर—उज्ज्वल, पवित्र भक्ति रूपी जल, तन मन जोबन भरि पिया—तन मन लगाकर यौवन भर पी लिया, प्यास न मिटी सरीर—शरीर की प्यास नहीं मिटी। अलंकार : रूपक, रूपकातिशयोक्ति, विषम।

१८०. मन उलट्या—मन सांसारिक भोगों से विरत हो गया या मन की उल्टी गति हुई, दरिया मिल्या—भक्ति रूपी सरिता प्राप्त हुई, न्हांन—स्नान, थाहत थाहन आवई—ब्रह्म की चाह थाने का प्रयत्न करने पर भी थाह नहीं मिलती, रहिमान—दयालु। अलंकार : रूपकातिशयोक्ति, पुनरुक्ति।

हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हिराइ।
बूंद समानी समद में कत हेरी जाइ ॥१८१॥

हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हिराइ।
समंद समाना बूंद मैं, सो कत हेचा जाइ ॥१८२॥

---

१८१. हेरत-हेरत—देखते देखते, रह्या कबीर हिराइ—कबीर (ब्रह्म में) खोगया, बूंद—पानी का कण (आत्मा), समद—समुद्र (परमात्मा), कत हेरी जाइ—कहाँ देखी जा सकती है। (जैसे बूंद जाकर पानी में विलीन होने पर वह अलग से पहचाना नहीं जा सकता, वैसे आत्मा जब परमात्मा में विलीन हो जाती है, तब उसका पृथक् अस्तित्व समाप्त हो जाता है।) अलंकार : रूपकातिशयोक्ति।

१८२. हेरत हेरत—ढूँढ़ते-ढूँढ़ते, रह्या कबीर हिराइ—(ईश्वर की खोज करते-करते) स्वयं कबीर (जीवात्मा) खोजने योग्य बन गया। समंद समाना बूंद मैं—परमात्मा रूपी समुद्र आत्मा रूपी बूंद में समाया हुआ है। (परमात्मा जीव के हृदय में ही निवास करता है।) भला जो जीवात्मा परमात्मा को अपने हृदय में धारण करती है, वह स्वयं ढूंढ़ने योग्य क्यों न हो!

८. जर्णा कौ अंग

कबीर का निर्गुण ब्रह्म मन-वाणी के परे है। उसका स्वरूप-निर्धारण करना कठिन है। कबीर पर भारतीय ब्रह्मवाद का स्पष्ट प्रभाव है। भारतीय दर्शनों ने ब्रह्म के स्वरूप के सम्बन्ध में 'नेति नेति' ही कहा है। बात यह है कि उसका स्वरूप कुछ ऐसा है कि उसे अभिव्यक्त करने में वाणी कुंठित होती है। कबीर की आत्मोक्ति है कि भगवान को न मैं भारी कह सकता हूँ न हलका ही क्योकि नेत्रों ने कभी उसका दर्शन नहीं किया। दूसरी बात अगर नेत्रों ने उसका दर्शन किया भी हो, तो भी मैं अगर कहूँ कि ब्रह्म का यह स्वरूप है, तो भी लोगों के द्वारा मेरी बात मानी जाने में संदेह है। ब्रह्म तो अद्भुत एवं अपरिमेय है। यहाँ तक कि हिन्दुओं के वेद-पुराण तथा मुसलमानों के कुरान की भी वहाँ तक पहुँच नहीं है। ब्रह्म वेद, कुरान सब की पहुँच के बाहर है। हाँ साधक अपने अनुमान का सहारा ले धीरे-धीरे साधना पथ पर अग्रसर होता जाए तो निश्चित है, वह उसे प्राप्त कर सकेगा। अभी साधना पथ पर बढ़ते हुए बीच मार्ग पर ही उसके स्वरूप पर बकवास या प्रलाप करने से विशेष लाभ नहीं है। ब्रह्म को अरूप, अगम्य एवं रहस्यमय रहने देना ही उचित होगा।

भारी कहौं त बहु डरौं, हलका कहूँ तौ झूठ।
मैं का जांणौं राम कूँ, नैनूँ कबहूँ न दीठ ॥१८३॥

दीठा है तौ कस कहूँ, कह्या न को पतियाइ।
हरि जैसा है तैसा रहो, तूँ हरिषि हरिषि गुण गाइ ॥१८४॥

---

१८३. का जाणौं—क्या जानूँ, नैनूँ—नेत्रों ने, कबहूँ न दीठ—कभी नहीं देखा।

१८४. दीठा है तौ कस कहूँ—प्रभु का दर्शन किया तो भी कैसे अभिव्यक्त करूँ; कह्या न को पतियाइ—कहने पर कोई विश्वास नहीं करता; हरिषि हरिषि—हर्षित या उल्लसित होकर।

ऐसा अद्भुत जिनि कथै, अद्भुत राखि लुकाइ।
बेद कुरानौं गमि नहीं, कह्यां न को पतियाइ ॥१८५॥

करता की गति अगम है, तूँ चलि अपणैं उनमान।
धीरैं धीरैं पाव दे, पहुँचैंगे परवान ॥१८६॥

पहुँचैंगे तब कहैंगे, अमड़ैंगे उस ठांइ।
अजहूँ बेरा समंद मैं, बोलि बिगूचैं कांइ ॥१८७॥

---

१८५. जिनि—मत, लुकाइ—छिपाकर, बेद कुरानौं गमि नहीं—वेद और कुरान की वहाँ तक पहुँच नहीं है।

१८६. करता—सृष्टिकर्ता ब्रह्म, अगम—अगम्य, अपणैं उनमान—अपने अनुमान पर, धीरैं धीरैं पाव दे—धीरे धीरे सावधानी से साधना के मार्ग पर बढ़ते जाओ, पहुँचैंगे परवान—तुम अपने लक्ष्य (ब्रह्म) तक पहुँच जाओगे।

१८७. अमड़ैंगे—उमड़ेंगे, उस ठांइ—उस स्थान पर, अजहूँ बेरा समंद में—अभी नाव बीच समुद्र में है (अभी तो साधक साधना के पथ पर है), बिगूचै—व्यर्थ नष्ट करें।

९. हैरान कौ अंग

ब्रह्म सम्बन्धी लोगों के आश्चर्य पर कबीर यहाँ प्रकाश डालते हैं। ब्रह्म मनसा वाचा अगम्य एवं अगोचर है। उसका दर्शन एवं उसकी प्राप्ति सरल नहीं है। ब्रह्म का स्वरूप इतना असाधारण है कि उसके सम्बन्ध में अगर कुछ कहा जाए तो साधारण लोग उसपर विश्वास नहीं करेंगे। वह अगाध एवं एक है, यह बात सुनकर लोग आश्चर्य चकित हो उठते हैं। सब से अधिक विस्मय की बात है कि पिंडहीन निराकार ब्रह्म जीव के पिंड या शरीर में समाया हुआ रहता है, पर उसकी गति कोई समझ नहीं पाता और समझने का प्रयास भी नहीं करता। यही सब से हैरानी का विषय है।

पंडित सेती कहि रहै, कह्यां न मानै कोइ।
ओ अगाध एका कहैं, भारी अचिरज होई ॥१८८॥

बसे अपंडी पंड मैं, ता गति लषै न कोइ।
कहै कबीरा संत हौ, बड़ा अचंभा मोहि ॥१८९॥

---

१८८. पंडित सेती—पंडितों से, एका—एक ही, अचिरज—आश्चर्य।

१८९. अपंडी—पिंडरहित (निराकार), पंड—(शरीर), लषै—देखता है, बड़ा अचंभा मोहि—मुझे बड़ा आश्चर्य होता है।

१०. लै कौ अंग

प्रस्तुत अंग में सहज समाधि के द्वारा ब्रह्म प्राप्ति की ओर संकेत किया गया है। कबीर की भक्ति पद्धति में सहज साधना एवं आन्तरिक साधना का महत्व है। कबीर बाह्याडंबर तथा तीर्थाटन आदि के कटु निंदक थे। उनकी मान्यता है कि मनुष्य अज्ञान के कारण गंगा-यमुना संगम तथा अन्य घाटों के दर्शन एवं पुण्यस्नान के लिए जाया करते हैं। वास्तव में कबीर की योग साधना में मनुष्य शरीर में ही गंगा-यमुना संगम तथा विविध घाट हैं। उन्होंने इड़ा (गंगा), पिंगला (यमुना) नाड़ियों का संगम ब्रह्मरंध्र में माना है। अतः वही उनकी त्रिवेणी संगम है। साधक को चाहिए कि सहज साधना के द्वारा कुण्डलिनी को जगाकर ब्रह्मरंध्र के त्रिवेणी संगम में स्नान करे। वहाँ शून्य-मण्डल का चिरन्तन घाट है, जहाँ अमृत रस में स्नान कर योगी दिव्यदर्शन का अधिकारी बनता है। मन की एकाग्रता एवं सुरति शब्द साधना आदि इसके सहायक अंग हैं। इन उपकरणों के बिना इधर-उधर मारा-मारा फिरता ढोंगी संन्यासी कबीर की दृष्टि में कोई सच्चा साधक नहीं है। वह अपना जीवन व्यर्थ गंवा रहा है। कबीर के अनुसार साधक में सच्चा लगन होना चाहिए, सभी वह अंतः साधना के लिए उद्यमशील हो सकता है।

जिहि बन सीह न संचरै, पषि उड़े नहीं जाइ।
रैनि दिवस का गमि नहीं, तहाँ कबीर रह्या ल्यौ लाइ ॥१९०॥

---

१९०. जिहि बन—जिस वन में (ब्रह्मरंध्र), सीह न संचरै—सिंह का प्रवेश नहीं होता, पंषि उड़े नहीं जाइ—पक्षी उड़ कर पहुँच नहीं पाता, रैनि दिवस का गमि नहीं—जहाँ रात और दिन का प्रवेश नहीं (जहाँ न दिन है न रात), रह्या ल्यौ लाइ—लगन की आग लगाकर बैठा है। कबीर का तात्पर्य है कि जीव-जन्तुओं, सचराचरों की पहुँच के परे जो ब्रह्मवास है, वहीं कबीर का ध्यान लग गया है।

सुरति ढीकुली ले जल्यौ, मन नित ढोलन हार।
कँवल कुवाँ मैं प्रेम रस, पीवै बारंबार ॥१९१॥

गंग जमुन उर अंतरै, सहज सुंनि ल्यौ घाट।
तहाँ कबीरै मठ रच्या, मुनि जन जोवैं बाट ॥१९२॥

१९१. सुरति—सुरति शब्द साधना, ढीकुली—सिंचाई के लिए कुएँ से पानी निकालने का उपकरण, लेज ल्यौ—लगन रूपी रस्सी, मन नित ढोलनहार—नित्य पानी भरने का मन रूपी डोल, कँवल कुआँ—सहस्रदल कमल का कूप, अर्थः सहस्रदल कमल रूपी कूप में सदा प्रेम का अमृतरस परिपूर्ण है। साधक सुरति शब्द साधना की ढेकुली पर लगन की डोरी लगा कर मन रूपी ढोल को अमृत रस रूपी जल से भर बारंबार पान करता है। अलंकार : साँगरूपक।

१९२. गंग जमुन उर अंतरै—गंगा और यमुना के पुण्यतीर्थ साधक के अन्तर हैं (यहाँ इड़ा पिंगला नाड़ियों की ओर संकेत), सहज—सहज समाधि, सुंनि ल्यौं घाट—शून्य गगन जैसा घाट, मठ—आश्रम (निवास स्थान), मुनि जन जो वैंबाट—मुनि जन जिसकी प्रतीक्षा करते हैं। अलंकार : रूपकातिशयोक्ति।

११. निहकर्मी पतिव्रता को अंग

महात्मा कबीर ने भक्ति के प्रतीक रूप में पतिव्रता और वीर को अपनाया है। पतिव्रता एकनिष्ठ प्रेम के लिए प्रसिद्ध है तो शूर या वीर अपने साहस के लिए। भक्ति की तीव्रता इन दोनों की अपेक्षा रखती है। जिस भक्ति में एकनिष्ठता हो तथा सभी कठिनाइयाँ सहकर आगे बढ़ने का साहस हो, उसकी सफलता असंदिग्ध है।

कबीर ने भारतीय परम्परा के अनुकूल आत्मा को स्त्री तथा परमात्मा को पुरुष रूप में चित्रित कर दांपत्य प्रेम के सहारे भक्ति की चरम परिणति दिखाई है। प्रेम की चरम परिणति दांपत्य में होती है, जहाँ प्रिय-प्रिया एकप्राण दो तन की दशा में रहते हैं। इस लिए कबीर ने अपने को पतिव्रता मानकर अपनी भक्ति के उद्‌गार प्रकट किये हैं।

कबीर की पतिव्रता अपने प्रिय के गुण कथन में बहुत आगे है। इसलिए वह उसे अत्यन्त गुण वाला मानती है तथा उसके प्रति पतिव्रता धर्म का अनुस्मरण करती हुई कहती है कि पतिव्रता केवल अपने पति की ओर ही देख सकती है. अगर वह परपुरुष की ओर कभी देखे तो यह उसके लिए कलंक की बात है। कबीर की पतिव्रता अपने प्रियतम परमात्मा से कहती है कि तुम मेरी आँखों में आ जाओ। मैं तुम्हें अपने नेत्रों में मूँद लूँगी। न मैं तुम्हारे सिवाय और किसी को देखूँगी न अन्य किसी को तुम्हें देखने दूँगी। वह सर्वात्म समर्पण के लिए तैयार है क्योंकि उसकी स्वीकृति है कि उसका अपना कुछ नहीं है, जो कुछ है प्रिय का दिया हुआ है और उसे प्रिय को लौटाते हुए उसे क्या हानि हो सकती है ? कबीर का आशय है कि आत्मा परमात्मा का अंश है और वह अंश जब अंशी से मिल जाए तब अंश को क्या नुकसान उठाने का है ? कबीर की पतिव्रता स्त्री कृत्रिम सौन्दर्य प्रसाधनों की आवश्यकता नहीं समझती। बात यह है कि उसका प्रिय उसकी आँखों में समाया हुआ है और उसके रहते वह अपनी आँखों में काजल कैसे लगा सकती है ? दूसरे वह सुहागिनी है। उसके माथे पर सुहाग सिन्दूर शोभा पा रहा है। उसके रहते काजल लगाकर सौन्दर्य बढ़ाने की आवश्यकता ही नहीं। सुख सुहागमयी नारी थोड़े ही अपने साज

शृंगार से और किसी को अपनी ओर आकृष्ट करना चाहेगी। जिस प्रकार समुद्र में स्थित सीप केवल स्वाति बूंद के लिए तरसती है, नीचे के समुद्र का जल उसके लिए वर्ज्य है, उसी प्रकार कबीर की पतिव्रता अपने प्रिय से कुछ पाने की आशा रखती है। वह केवल अपने प्रिय का स्मरण करती है और उससे माँगती है। बाहरी सुख-वैभव की तृषा उसे छू नहीं सकती। वह सांसारिक सुख की खोज में जा रही थी कि प्रिय विरह का दुख मिला और अब वही उसकी संपत्ति है, उसीको अपनी थाती बनाये वह रहना चाहती है। दूसरा सुख उसके लिए हेय है। जहाँ प्रियतम है वहाँ उसे सुख है। यहाँ तक कि वह नरक को भी स्वर्ग मानेगी बशर्ते कि प्रिय साथ हो। प्रिय के बिना स्वर्ग भी उसके लिए नरक तुल्य है।

कबीर की पतिव्रता आत्मा इस दार्शनिक तथ्य से अवगत है कि इस संसार में जानने योग्य केवल ब्रह्म है। उस एक को जाने बिना और सब सांसारिक वस्तुएँ जानने से कोई लाभ नहीं। संसार की समस्त वस्तुएँ उस एक ब्रह्म से उत्पन्न हैं, किन्तु वे सब वस्तुएँ मिलकर भी उस एक ब्रह्म का निर्माण नहीं कर सकतीं। अतः यह ब्रह्म ही संसार का सृष्टिकर्ता है। यह ब्रह्म निष्काम भक्ति से प्राप्त होता है क्योंकि वह स्वयं कामनारहित है। आत्मा को चाहिए कि उस भगवान से कुछ पाने की आशा रखे, अन्य सांसारिक वस्तुओं से कुछ पाने की आशा दुराशा है, क्योंकि वे स्वयं अस्थायी क्षणिक हैं। ब्रह्म सम्पूर्ण संसार में व्याप्त है, किन्तु अज्ञानी जीवात्मा इससे अवगत हुए बिना उसकी प्यास में इधर-उधर भटकती है, जैसे कि पानी में रहने वाला जीव पानी के लिए तरसता है। जीव भी कितना मूर्ख है ! कलिकाल की विशेषता है कि प्राणी ससार के विविध पदार्थों (माया) के प्रति अत्यासक्त रहता है। वास्तविक सुख उसे मिलता है , जिसने एकमात्र ब्रह्म से मित्रता बनायी है।

कबीर की भक्ति दास्य भाव की पराकाष्ठा तक पहुँचती है जब वह अपने को राम का कुत्ता कहते हैं। वे कहते हैं कि मेरा नाम मोती है और मेरे गले में प्रभु की बन्धी रस्सी है। प्रभु जिस ओर खींचते हैं, उस ओर मैं जाता हूँ। अगर प्रभु मुझे पुचकारें तो मैं बहुत निकट पहुँच जाता हूँ। अगर दुत्कारते हैं तो मैं उनकी इच्छा के अनुसार दूर चला जाता हूँ। मैंने यह संकल्प किया है कि वे जो देंगे, वह खाऊँगा और जैसे रखना चाहेंगे वैसा रहूँगा।

अंत में कबीर की पतिव्रता यह विश्वास प्रकट करती है कि इस संसार में मेरा कुछ अमंगल नहीं होगा। मैं तो समर्थ प्रभु की दासी हूँ। अगर पतिव्रता नंगी ही रहे तो यह उसके लिए नहीं, किन्तु पति के लिए लज्जाजनक है। राम की दासी होकर भी आत्मा अगर दुश्चरित्र एवं दुश्शील हो तो यह

उनके लिए झिझक की बात होगी। पतिव्रता का धर्म है कि प्रभु का भक्ति रूपी षड्रस भोजन से सत्कार करे ताकि प्रभु कभी उसका साथ छोड़ने को तैयार न हो। इस प्रकार निष्काम भक्ति, एकनिष्ठता, सर्वात्म समर्पण एवं शुद्ध प्रीति कबीर की पतिव्रता की विशेषताएँ हैं।

कबीर प्रीतड़ी तौ तुझ सौं, बहु गुणियाले कंत।
जे हँसि बोलौं और सौं, तौं नील रँगाऊँ दंत ॥१९३॥

नैनां अंतरि आव तूं, ज्यूं हौं नैन झँपेउं।
ना हौं देखौं और कूं, ना तुझ देखन देउं ॥१९४॥

मेरा मुझ में कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा।
तेरा तुझकौं सौंपता, क्या लागै मेरा ॥१९५॥

कबीर रेख स्यंदूर की, काजल दिया न जाइ।
नैंनूं रमइया रमि रह्या, दूजा कहाँ समाइ ॥१९६॥

---

१९३. प्रीतड़ी—प्रीति (प्रेम), गुणियाले कंत—प्रिय गुण वाले हैं, जे हंसि बोलौं और सौं तौं नील रंगाऊं दंत—अगर मैं किसी से हँसू बोलूँ तो अपने को कलंकित करूं। नील रंगाऊं दंत (मुहावरा)-कलंकित करूं।

१९४. नैनां अंतरि—नेत्रों में, नैन झंपेऊं—पलकों से ढक लूँ, ना हौं देखौं और कूँ—न मैं (तेरे सिवाय) और को देखूँगी, नां तुझ देखन देउं—न तुझे किसी को देखने दूँगी। सच्ची पतिव्रता का वर्णन है।

१९५. मेरा मुझमें कुछ नहीं—मुझमें मेरा अपना कहने योग्य कुछ भी नहीं है; जो कुछ है सो तेरा—जो कुछ अस्थि चर्ममय शरीर और जीवन है वह तेरा दिया हुआ है; तेरा तुझको सौंपता—तेरा दिया हुआ शरीर और जीवन तेरी साधना में लगाने में; क्या लागै मेरा—मेरा क्या नुकसान है।

१९६. रेखस्यंदूर की—सौभाग्यवती नारी की माँग की सिन्दूर की रेखा, नैंनूं रमइया रमि रह्या—नेत्रों में राम रमा हुआ (बसा हुआ) है, दूजा—दूसरा (काजल जैसी सांसारिक सौन्दर्य प्रसाधन की वस्तुएँ)।

कबीर सीप समंद की, रहै पियास पियास।
समदहि तिणका बरि गिण, स्वांति बूंद की आस ॥१९७॥

कबीर सुख कौं जाइ था, आगैं आया दुख।
जाहि सुख घरि आपणैं, हम जाणौं अरु दुख ॥१९८॥

दोजक तौ हम अंगिया, यह डर नाहीं मुझ।
भिस्त न मेरे चाहिए, बझि पियारे तुझ ॥१९९॥

जे वो एकै जांणियाँ, तौ जाण्या सब जांण।
जे ओ एक न जांणियाँ, तो सबहीं जांण अजांण ॥२००॥

कबीर एक न जांणियां, तौ बहु जांण्यां क्या होइ।
एक तैं सब होत है, सब तैं एक न होई ॥२०१॥

---

१९७. सीप—सीपी, समंद—समुद्र, पियास—प्यास, समदहि—समुद्र को, तिणका—तृण तुल्य, बरि—वारि, गिण—गिनती है। स्वाँति बूंद की आस—सीपी को स्वाति नक्षत्र की बूंद मात्र की आशा है। (कवि समय के अनुसार स्वाति नक्षत्र की बूंद पड़ने से सीपी में मोती पैदा होता है।) अलंकार : अन्योक्ति।

१९८. सुख को जाइ था—सांसारिक सुख को जा रही थी, आगैं आया दुख—तभी प्रभु विरह जन्य दुख का सामना पड़ा, जाहि सुख घरि आपणैं—हे सुख तू मुझ से विदा ले।

१९९. दोजक—नरक, अंगिया—अंगीकार करती हूं, भिस्त-स्वर्ग, बाझ—रहित।

२००. जे वो एकै जांणियाँ—जिसने उस एक (ब्रह्म) को जाना, तो जाण्या सब जांण—तो समझना चाहिए कि उसने सब कुछ जान लिया है (क्योंकि सारा संसार उस एक से उद्भूत है।); तो सबहीं जांण अजांण—तो सब का ज्ञान मात्र अज्ञान है। अद्वैतवाद का प्रभाव।

२०१. एक न जांणियां—संपूर्ण दृष्टिगोचर ब्रह्माण्ड के कारणभूत ब्रह्म को नहीं समझा; बहु जांण्यां क्या होइ—ब्रह्म के अतिरिक्त केवल अंश रूप बहुत को जानने से क्या होता है; सब तैं एक न होई—सब के सम्मिलित प्रयास से भी ब्रह्म की सृष्टि नहीं होती।

जब लग भगति सकांमता, तब लग निर्फल सेव।
कहै कबीर वै क्यूं मिलैं, निहकामी निज देव ।।२०२।।

आसा एक जु राम की, दूजी आस निरास।
पांणी मांहैं घर करैं, ते भी मरै पियास ।।२०३।।

जे मन लागै एक सूं, तौ निरबाल्या जाइ।
तूरा दुइ मुखि बाजणां, न्याइ तमाचे खाइ ।।२०४।।

कबीर कलिजुग आइ करि, कीये बहुतज मीत।
निज दिल बंधी एक सूं, ते सुखु सोवै नचींत ।।२०५।।

कबीर कूता राम का, मुतिया मेरा नाउं।
गलै राम की जेवड़ी, जित खैंचे तित जाउं ।।२०६।।

---

२०२. जब लग—जब तक, सकांमता—कामनापूर्ण, तब लग—तब तक, निर्फल—निष्फल (व्यर्थ), सेव—सेवा, निहकामी – इच्छा रहित। कबीर पर गीता के निष्काम कर्म एवं भक्ति का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है।

२०३. आसा—आशा, दूजी आस—दूसरी आशाएं, पांणी मांहैं घर करैं—पानी में घर बनाये रहने वाला।

२०४. जे मन लागै एक सूँ—अगर एक ब्रह्म पर मन का लगाव हो, निरबल्या जाइ—निर्वाह हो जाएगा, तूरा दुइ मुखि बाजणां—तुरही के दोनों मुखों से बजने के कारण, न्याइ—न्याय से (समान रूप से)। अलंकार : दृष्टांत।

२०५. कलियुग आइ करि—कलियुग में आकर, कीये बहुतज मीत—बहुतों से मित्रता की (विविध प्रपंचों से आसक्त हुआ), ते सुख सोवै न चींत—वे चिन्तारहित हो सुख की नींद लेते हैं।

२०६. कूता—कुत्ता (कबीर की दास्य भक्ति इतनी है कि वे अपने को रामका कुत्ता कहते हैं।), मुतिया मेरा नाऊं – मेरा नाम मोती है, जेबड़ी—रस्सी (राम नाम की रस्सी), जित खैंचै तित जाऊं—जिस ओर खींचा जाता है, उस ओर जाता हूं। अलंकार : रूपकातिशयोक्ति।

तो तो करै त बाहुड़ौं, दुरि दुरि करै तौ जाउँ।
ज्यूँ हरि राखै त्यूँ रहौं, जो देवै सो खाउँ ॥२०७॥

मन प्रतीति न प्रेम रस, नां इस तन मैं ढंग।
क्या जाणौं उस पीव नूँ, कैसैं रहसी रंग ॥२०८॥

उस संम्रथ का दास हौं, कदे न होइ अकाज।
पतिव्रता नांगी रहै, तौ उसही पुरिस को लाज ॥२०९॥

घरि परमेसुर पांहुणौं, सुणौं सनेही दास।
षट रस भोजन भगति करि, ज्यूँ कदे न छाड़ै पास ॥२१०॥

---

२०७. कबीर कुत्ते के रूपक द्वारा अपनी असीम भक्ति का परिचय देते हुए कहते हैं कि मैं प्रभु की इच्छानुवर्ती बनकर सदा रहूंगा। तो तो करै – तू तू कर पुचकारे, दुरि दुरि करै – दूर दूर करके दुत्कारे, जो देवै—जो देता है।

२०८. मन परतीत न—मन में प्रीति नहीं, न प्रेम रस—मन में भगवान को अनुकूल बनाने योग्य भक्ति नहीं, नां इस तन मैं ढंग—न यह शरीर ही कुछ ढंग का है (शरीर में भगवान को वश में करने योग्य सौन्दर्य नहीं है।), क्या जाणौं—मुझे पता नहीं, कैसे रहसी रंग—प्रिय से संयोग होने की रहस्यमयी दशा में कैसे रंग-रेलियाँ करूंगी।

२०९. अपनी दास्य भक्ति का परिचय देते हुए कबीर का कथन है। संम्रथ—सामर्थ्यवान भगवान, कदे न होइ अकाज—कभी अमंगल नहीं होगा, नांगी—नंगी (भक्त के संदर्भ में शील गुण रहित से तात्पर्य) उसही पुरिस को लाज—उसके पुरुष या पति के लिए लज्जा की बात है। अलंकार : दृष्टांत।

२१०. घरि परमेसुर पांहुणां—हृदय रूपी घर में परमेश्वर रूपी अतिथि पधारे हैं; सुणौं सनेही दास—हे प्रेमी प्रभु के भक्त जनो, तुम सुनो; षटरस भोजन भगति करि—भक्ति रूपी षड्रस व्यंजनों से प्रभु का सत्कार कर, ज्यूँ कदे न छाड़ै पास—जिससे भगवान कभी हमारा साथ न छोड़े। अलंकार : रूपक।

फुटकर साखियां

इस शीर्षक के अन्तर्गत कुछ चुने हुए दोहे रखे गये हैं जो कबीर की किसी न किसी विचारधारा का प्रतिनिधित्व करते हैं। हिन्दी साहित्य क्षेत्र में कबीर अपने दार्शनिक चिन्तन तथा समाज सुधारवादी दृष्टिकोण के लिए प्रख्यात हैं। इस लिए यहाँ कुछ तत्संबंधी दोहो को स्थान दिया गया है।

दार्शनिक दृष्टि से कबीर अद्वैतवाद की ओर झुके हुए हैं। अद्वैतवादियों ने 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' का सिद्धान्त-प्रतिपादन किया। कबीर का प्रभु घट-घट वासी है, वह प्रत्येक जीव की हृदय-शय्या पर स्थित है, किन्तु अज्ञानी लोग उसकी खोज में इधर-उधर तीर्थ स्थानों, पुण्य स्थानों पर भटकते हैं। वास्तव में मनुष्य शरीर के भीतर ये सारे पुण्यतीर्थ हैं। कबीर ने स्पष्ट घोषित किया है कि मनुष्य का मन मथुरा है, हृदय द्वारिकापुरी है, शरीर के दसवें द्वार ब्रह्मरंध्र में निरंजन ज्योति प्रकाशित हो रही है।

जीव अज्ञानी है, विषयासक्त है। वह साधना पथ पर जब अग्रसर होता है तब बीच में बाधक बनकर पंचेन्द्रियाँ तथा विषय-विकार खड़े होते हैं। मनुष्य संसार रूपी सागर को पार करने के लिए आगे बढ़ता है, लेकिन पंच विकार रूपी दुष्टों को साथ लेकर चलने के कारण वह अपने प्रयत्न में सफल नहीं हो पा रहा है। कबीर ने सुन्दर रूपक योजना के द्वारा इस बात को समझाया है कि मनुष्य का शरीर रूपी नाव जीर्णशीर्ण है, उसे खे चलने वाला मल्लाह बेकार है और फिर पाप रूपी बोझ उसमें लादा गया है। अतः नाव का सागर में डूब जाना निश्चित है। हाँ जिसने जीवन में पुण्य ही किया, उसकी नाव हल्की होन से सरलता से पार पहुंच जाती है।

यह संसार अस्थिर एव क्षणिक है। इसकी नश्वरता एवं क्षणिकता को दर्शाने के लिए कबीर ने सेंवल फूल का रूपक दिया है। सेंवल का फूल बाहर से देखने पर सुन्दर दिखलायी देता है उसका आन्तरिक भाग खोखला है। जैसे तोता सेंवल के फूल पर आकृष्ट हो चोंच मारकर अंत में निराश होता है वैसे मनुष्य इस सारहीन संसार के बाह्य सौन्दर्य एवं आकर्षण पर आकृष्ट हो

अन्त में निराश होता है ग्लानि एव दुख अनुभव करता है। इस संसार में कोई वस्तु शाश्वत नहीं है। यह संसार प्रातःकालीन नक्षत्रों के समान देखते-देखते नष्ट हो जाएगा। यहाँ का यह नियम है कि जो उदित होता है वह दूसरे क्षण अस्त होता है, जो विकसित होता है वह मुरझा जाता है; यहाँ जो आता है, उसका दूसरे क्षण यहाँ से जाना अवश्यंभावी है। पर दुख इस बात का है कि मनुष्य मदान्ध है, अज्ञानी है और इस लिए संसार आकर्षणों को सब कुछ समझता है। यहाँ यौवन उस टेसू के फूल के समान है जो चार दिन विकसित रहकर बिखर जाता है। कबीर ने मनुष्य जीवन को कुंभ का रूपक प्रदान कर समझाया है कि यह जीवन मिट्टी का घटा है, यह घटा भी कच्चा है जो चारों दिशाओं से मार खाता है। दूसरे स्थान में जीवन को कुंभकार की मिट्टी की तुलना दी गयी है। जैसे कुंभकार मिट्टी को रौंदता रहता है वैसे यमराज इस जीवन को कुचल रहा है। कबीर ने शरीर को कागज़ की नाव बताया है। कागज़ की नाव कितनी अस्थायी एवं क्षणिक है।

संसार माया है। यह माया स्वभाव की दृष्टि से पापी वेश्या के समान है। जैसे वेश्या अपने कृत्रिम सजधज से पुरुषों को प्रभावित करती है, वैसे यह माया मनुष्य को अपने झूठे आकर्षणों से भ्रम में डालती है। जो इस भ्रम में पड़ता है उसका उद्धार असंभव है। यही माया मनुष्य को साधना पथ से नीचे खसीट लेती है और उसे भ्रष्ट करती है। यह माया त्रिगुणात्मिका है। इसे वृक्षका अप्रस्तुत दिया गया है तथा कहा गया है कि इसका फल दुख है और छाया संताप है। कबीर ने कामिनी तथा कंचन को माया बताकर दोनों से दूर रहने का आग्रह किया है। कामिनी का रूप-ज्वाल तथा कंचन की चकाचौंध साधक को चंचल कर देती है, उसकी आँखें चौंधिया जाती हैं और वह पथ-भ्रष्ट हो जाता है। कबीर का स्पष्ट मत है कि अज्ञानी लोग पर-नारी में आसक्त हो अपना सर्वनाश कर बैठते हैं। पर-नारी से प्राप्त सुख शाश्वत नहीं वह वासना की उपज है।

कबीर बाह्याडंबर एवं दिखावे के निन्दक थे। काषाय वेषधारी ढोंगी भक्त एवं सन्यासी तथा तीर्थाटक उनकी आलोचना के पात्र रहे। ये लोग अपने घटवासी ईश्वर को पहचाने बिना इधर-उधर भटकते हैं जैसे कस्तूरी मृग अपनी नाभि में रहती कस्तूरी को खोज में वन-वन सूँघता फिरता है। सिर का मुंडन करने से कोई साधु नहीं बनता तथा बड़े धार्मिक ग्रन्थों को पढ़ने से कोई सच्चा ज्ञानी नहीं बनता। पोथियाँ पढ़-पढ़ कर सारा संसार ही नष्ट हुआ, किन्तु जिसने प्रभु के ढाई अक्षर को पहचाना, वह सच्चा ज्ञानी बना। कबीर सिर का मुँडन कर घूमते ढोंगी साधु की निन्दा में पूछते हैं कि तुम्हारे बालों ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है। तुम अपने विषय-विकारों से भरे मन का मुंडन क्यों

नहीं करते । अर्थात् मन की शुद्धि से कोई ईश्वर की ओर उन्मुख हो सकता है । ईश्वर प्राप्ति सच्ची भक्ति से सम्भव है, सच्ची भक्ति के अभाव में चाहे मथुरा जाएं या काशी, कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता । सच्चा साधु प्रभु भक्त होता है, वह निष्कामी एवं विनम्र स्वभाव का है । वह मृत्यु से भयभीत नहीं होता, किन्तु मृत्यु की कामना करता है कि उसकी मृत्यु का सुअवसर कब आएगा ताकि परमानंद स्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति हो सके । सच्चा साधू प्रभु से प्रीति रखता है और उसकी संगति की कामना करता है । नाम-स्मरण सत्संगति साधना आदि के द्वारा वह ईश्वर को प्राप्त करता है और चिरन्तन एवं शाश्वत ब्रह्मानंद का अनुभव करता है । इस ब्रह्मानंद का उपभोग करना मनुष्य मात्र का लक्ष्य होना चाहिए ।

कबीर पटण कारिवाँ, पंच चोर दस द्वार ।
जम रांणौं गढ़ भेलिसी, सुमिरि लै करतार ॥२११॥

---

२११. पटण—नगर (शरीर से तात्पर्य), कारिवाँ—कारवाँ, पंच-चोर—काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह नामक मन के पाँच विकार, जो ज्ञान रूपी रत्न का अपहरण करते हैं । दस द्वार—शरीर के दस द्वार हैं—दो कान, दो नेत्र, दो नासिका विवर, मुख, गुदा, मूत्रद्वार और ब्रह्मरंध्र । जम राणौं—यमराज, गढ़ भेलिसी —शरीर रूपी गढ़ को नष्ट करेगा ।सुमिरि लै करतार—सृष्टि स्वरूप ब्रह्म का स्मरण कर लो । कबीर ने सुन्दर रूपक बांधा है । शरीर रूपी कारवां आत्मा रूपी धन को लेकर चल रहा है । उसकी लूट-मार के लिए यहाँ पंच चोर ताक में खड़े हैं । अगर कारवां सतर्क नहीं रहा तो वह सुरक्षित गन्तव्य स्थान पर पहुँच नहीं सकता । इस शरीर रूपी गढ़ के दस द्वार हैं, जहाँ से धन का अपहरण सरल है । फिर शरीर रूपी गढ़ भी अरक्षित है । इसको ढहा देने की ताक में यमराज खड़ा है । अतः जीव को चाहिए कि संसार में अपनी दुर्गति की बात समझकर सृष्टिकर्ता का स्मरण करे । अलंकार : साँग रूपक । यहाँ साँग रूपक का उचित निर्वाह नहीं हो पाया, क्योंकि प्रथम पक्ति में जिस शरीर को कारवाँ का रूपक दिया था, उसी को तृतीय में गढ़ बना लिया है ।

कबीर कहा गरबियौं, इस जोबन की आस।
टेसू फूले दिवस चारि, खंखर भये पलास ॥२१२॥

यहु ऐसा संसार है, जैसा सैंबल फूल।
दिन दस के व्योहार कौं, झूठै रंगि न भूलि ॥२१३॥

माटी मलणि कुंभार की, घणीं सहे सिरि लात।
इहि औसरि चेत्या नहीं, चूका अब की घात ॥२१४॥

यह तन काचा कुंभ है, चोट चहूं दिसि खाइ।
एक राम के नाँव बिन, जदि तदि प्रलै जाइ ॥२१५॥

---

२१२. यहाँ के यौवन को क्षणिक बताकर उसके प्रति गर्व न करने का आग्रह है। यौवन को पलाश का उदाहरण दिया गया है। कहा गरबियौ—क्या गर्व किया जाए; दिवस चारि—थोड़े दिन, खंखर-ठूँठ। जैसे पलाश थोड़े दिन अपनी आभा दिखाकर ठूँठ रह जाता है, वैसे ही यह मादक यौवन थोड़े दिन का मेहमान है, फिर हड्डियों का ढाँचा मात्र रहेगा। अलकार : दृष्टान्त है।

२१३. सैंवल फूल—सेंवल नामक पुष्प विशेष, जो बाहर से आकर्षक है, किन्तु अन्दर से तत्वहीन है। (तोता उसमें बड़े चाव से चोंच मारता है, पर निराश होना पड़ता है।) झूठे रंगि न भूलि—संसार के क्षणिक एवं अवास्तविक माया जन्य आकर्षणों में अपने वास्तविक रूप को विस्मृत नहीं होना चाहिए। अलंकार : उपमा। संसार के झूठे आकर्षणों को तत्वहीन, किन्तु ऊपर से सुन्दर सेंवल फूल की उपमा दी गयी है।

२१४. माटी—मिट्टी, कुंभार—कुम्हार, इहि अवसरि—इस अवसर पर (जन्म में)। कबीर कुम्हार का उदाहरण प्रस्तुत कर जीव को समझाते हैं कि यमराज जीव को रौंद रहा है। अगर इस जन्म में भी सावधान हो आवागमन के चक्र से मुक्त होने का उपाय नहीं सोचा तो जन्म-जन्मांतरों तक ये यातनाएँ सहनी पड़ेंगी। अलंकार : अन्योक्ति।

२१५. काचा—कच्चा, चहूँ दिसि—चारों दिशाओं से, नाँव—नाम, जदि तदि—जब तब। अलंकार : रूपक।

कबीर नाव जरजरी, कूड़े खेवणहार।
हलके हलके तिरि गये, बूड़े तिनि सिर भार ।।२१६।

कागद केरी नाँव री, पांणी केरी गग।
कहै कबीर कैसे तिरूँ, पंच कुसंगी सग ।।२१७।।

कबीर मन पंषी भया, बहुतक चढ्या अकास।
उहां हीं तै गिरि पड्या, मन माया के पास ।।२१८।।

काया देवल मन धजा, बिषैं लहरि फहराइ।
मन चाल्यां देवल चलै, ताका सर्बस जाइ ।।२१९।।

---

२१६. नाव—जीवन रूपी नाव, कूड़े खेवणहार—जीवन रूपी नाव को खेने वाला मल्लाह व्यर्थ है। हलके हलके तिरि गये—संसार रूपी सागर में जीवन रूपी नौकाएँ खेयी जा रही हैं। उसमें से हल्की-हल्की नावें अर्थात् पाप के बोझ से रहित शुद्धात्मा वाले तर गये, बूड़े तिनि सिर भार—वे पापी जिनके सिर पर पाप का भारी बोझ था, डूब गये। अलंकार : अन्योक्ति।

२१७. कागद केरी नाँव—कागज़ की नाव (नश्वर शरीर की ओर संकेत), पांणी केरी गंग—पानी से पूर्ण सरिता (यहाँ तात्पर्य माया रूपी पानी से भरी संसार की सरिता से है), पच कुसंगी सग—काम, क्रोध, मद, लोभ और मोह नाम की पाँच विषय वासनाएँ जो जीव को संसार-सागर मे डुबाने की ताक में हैं। अलंकार : रूपकातिशयोक्ति।

२१८. मन पषी भया—मन पक्षी बनकर उड़ता गया, बहुतक चढ्या-अकास—शून्य मण्डल तक बहुत ऊँचा उड़ा, उहाँ—वहाँ, मन माया के पास—मन माया रूपी रज्जु में जकड़ गया। कबीर का तात्पर्य है कि मन की साधना में बाधक तत्त्व माया है, जो उसे ऊपर उड़ने से नीचे संसार के आकर्षणों की ओर खींचती है। अलंकार : साँगरूपक।

२१९. काया देवल मन धजा—शरीर रूपी मंदिर पर मन की ध्वजा फहर रही है (अर्थात् शरीर में मन का स्थान सर्वोच्च है), विषै लहरि फहराइ—विषय वासना की वायु के स्पर्श से वह लहरा उठती है; मन चाल्यां देवल चलै, ताका सर्बस जाइ - विषय वासनाओं से प्रेरित मन से संचालित मदिर का सर्वनाश होता है। अलंकार : साँगरूपक।

उतीयैं कोइ न आवई, जाकूं बूझौं धाइ।
इतथैं सबै पठाइये, भार लदाइ लदाइ ॥२२०॥

कबीर माया पापणी, लालै लाया लोग।
पूरी किनहूँ न भोगई, इनका इहै बिजोग ॥२२१॥

कबीर माया मोहनी, जैसी मीठी खाँड़।
सतगुर की कृपा भई, नहीं तौ करती भाँड ॥२२२॥

त्रिया त्रिष्णां पापणीं, तासु प्रीति न जोड़ि।
पैंड़ी चढ़ि पाछां पड़ै, लागै मोटी खोड़ि ॥२२३॥

---

२२० उतीयैं—उधर से (स्वर्ग से), कोई न आवई—स्वर्ग में पहुँचने पर वहाँ से कोई वापस नहीं आता, जाकूं बूझौं धाई—जिससे जाकर स्वर्ग के अनुभव पूछे जा सकते हैं, इतयैं—इधर से (इस संसार से), पठाइये—भेजे जाते हैं, भार लदाइ लदाइ—पाप के बोझ उठा-उठाकर। अलंकार : रूपकातिशयोक्ति, वीप्सा।

२२१. पापणी—पापी वेश्या, लालै लाया लोग—लोगों के मन में लालसा जागती है, पूरी किनहूँ न भोगइ—उसका पूर्ण उपभोग कोई नहीं कर पाता, इहै वियोग—यही वियोग है। माया को वेश्या का रूपक देकर बताया गया है कि जैसे वेश्या किसी एक की नहीं होती और इस लिए कोई उसका पूर्ण उपभोग नहीं कर पाता, वैसे माया भी किसी को पूर्ण भोग करने नहीं देती, उसके पहले जीव का वियोग होता है। अलकार : रूपक, काव्यलिंग।

२२२. मोहनी—मोहक, नहीं तो करती भाँड—अन्यथा नष्ट हो जाता था। अलंकार : उपमा।

२२३. त्रिया त्रिष्णां पापणीं—तृष्णा वेश्या स्त्री है, तासु प्रीति न जोड़ि—उससे प्रेम संबंध नहीं जोड़ना चाहिए, पैंढ़ि चढ़ि पछां पगै—तृष्णा जीव का पीछा पड़कर उसे मोहित करती है, लागै मोटी खोड़ि—इससे मोटे अपराधों का भागी बनना पड़ता है। अलंकार : रूपक।

माया तरवर त्रिविध का, साखा सुख संताप।
सीतलता सुपिनै नहीं, फल फीकौ तनि ताप ॥२२४॥

बाड़ि चढ़ंती बेलि ज्यूँ, उलझी आसा फंध।
तूटै पणि छूटै नहीं, भई ज बाचा बंध ॥२२५॥

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुवा, पंडित भया न कोइ।
ऐकै अषिर पीव का, पढ़ै सु पंडित होइ ॥२२६॥

कांमणि काली नागणीं, तीन्यूँ लोक मँझारि।
रांम सनेही ऊबरे, विषई खाये झारि ॥२२७॥

---

२२४. माया तरुवर त्रिविधि का—माया त्रिगुणात्मक वृक्ष है, साखा दुख संताप—दुख और संताप उस वृक्ष की शाखाएँ हैं, सीतलता सुपिनै नहीं—अन्य वृक्षों के समान शीतलता यहाँ स्वप्न में भी प्राप्त नहीं होती, फल फीको तनि ताप—इस माया वृक्ष का फल अन्य वृक्षों के फल के समान मीठा न होकर फीका रहता है और शरीर को दुख पहुँचाता है। अलंकार : साँगरूपक।

२२५. बाड़ि चढ़ती बेलि ज्यूँ—यह माया संसार रूपी बाड़े पर चढ़ती बेल के समान है, उलझी आसा फंध—जो आशा रूपी फंदे में उलझी हुई है, तूटै पणि छूटै नहीं—इससे सम्बन्ध तोड़ने पर भी जीव संसार से छूटता नहीं, भई ज बाचा बंध—जैसे वचनबद्ध व्यक्ति अपने वचनों पर दृढ़ रहता है। अलंकार : उपमा, रूपक, रूपकातिशयोक्ति।

२२६. पोथी—बड़े बड़े धार्मिक ग्रंथ, जग मुवा—सारा संसार मर गया, ऐकै अषिर पीव का—प्रियतम परमात्मा के एकमात्र नाम 'राम' के अक्षर। अलंकार : वृत्यनुप्रास।

२२७. कांमणि—कामिनी, नागणीं—नागिन, तीन्यूँ लोक मँझारि—तीनों लोक में, राम सनेही ऊबरै—राम भक्त ही नारी रूपी नागिन से बच पाता है।

पर नारी राता फिरैं, चोरी बिढ़ता खांहि।
दिवस चारि सरसा रहै, अंति समूला जांहि ॥२२८॥

एक कनक अरु कामनी, दोऊ अगनी की झाल।
देखें हीं तन प्रजलै, परस्यां हैं पैमाल ॥२२९॥

सांई सेती चोरियां, चोरां सेती गुझ।
जांणैगा रे जीवड़ा, मार पड़ैगी तुझ ॥२३०॥

मन मथुरा दिल द्वारिका, काया कासी जांणि।
दसवां द्वारा देहुरा, तामैं जोति पिछांणि ॥२३१॥

कबीर दुनियां देहुरै, सीस नवांवण जाइ।
हिरदा भीतरि हरि बसै, तूं ताही सौं ल्यौ लाइ ॥२३२॥

केसौं कहा बिगाड़िया, जू मूंडै सौ बार।
मन कौ काहे न मूंडिए जामैं बिषै बिकार ॥२३३॥

---

२२८. पर नारी राता फिरैं—पर-स्त्री में आसक्त हो फिरता है, चोरी बिढ़ता खांहि—चोरी की वृद्धि लेकर खाता है, दिवस चारि सरसा रहै थोड़े दिन के लिए आमोद प्रमोद-करता रहे, अंति समूला जांहि— अंत में समूल नष्ट होता है।

२२९ कनक—सोना, दोऊ अगनि की झाल—दोनों आग की लपट हैं, प्रजलै—प्रज्वलित होता है, परस्यां हैं पैमाल—स्पर्श करते ही नष्ट हो जाता है। अलंकार : रूपक।

२३०. सांई सेती चोरियां—प्रभु से तू चोरी करता है, चोरां सेती गुझ —काम क्रोध मोहादि चोरों से तू मित्रता बनाये रखता है, जीवड़ा—जीवात्मा, मार पडैगी—तुझे जब प्रभु से मार खानी पड़ेगी।

२३१. कबीर मनुष्य शरीर के भीतर ही पुण्यतीर्थ मानते हैं। काया कासी जांणि—शरीर को काशी जान लो, दसवां द्वार देहुरा—ब्रह्मरंध्र के भीतर परमपुरु की ज्योति प्रकाशित होती है। अलंकार : रूपक और अनुक्रम।

२३२. देहुरै—देवालय, नवांवण—सिर नवाने के लिए, हिरदा भीतरि—हृदय के अन्दर, ल्यौ लाइ—ध्यान लगाओ। अलकार : रूपक।

२३३. केसौं - केशों ने; कहा—क्या, काहे न मूँडिए—क्यों मुंडन नहीं करते, जामैं बिषै विकार—जिसमें विषय-बिकार भरे रहते हैं।

मथुरा जावै द्वारिका, भावै जावै जगनाथ।
साध संगति हरि भगति बिन, कछू न आवै हाथ ॥२३४॥

मेरे संगी दोइ जणां, एक बैष्णों एक रांम।
वो है दाता मुकति का, वो सुमिरावै नांम ॥२३५॥

कबीर खाई कोट की, पांणी पिवै न कोइ।
जाइ मिलै जब गंग मैं, तब सब गंगोदिक होइ ॥२३६॥

सब घटि मेरा सांइयां, सूनीं सेज न कोइ।
भाग तिन्हौं का हे सखी, जिहि घटि परगट होइ ॥२३७॥

कबीर पांणी केरा पूतला, राख्या पवन सँवारि।
नांनां बांणी बोलिया, जोति धरी करतारि ॥२३८॥

कबीर तूं काहे डरै, सिर परि हरि का हाथ।
हस्ती चढ़ि नहीं डोलिये, कूकर भुसैं जु लाष ॥२३९।

---

२३४. जगनाथ—जगन्नाथपुरी काशी, साध संगति—साधुसंतों की संगति।

२३५. दोइ जणां—दो जन, बैष्णों—वैष्णव, एक राम-एक प्रभु, वो—प्रभु, दाता मुकति का—मुक्ति प्रदान करने वाला, वो सुमिरावैं नाम—वैष्णव प्रभु का नाम-स्मरण कराता है।

२३६. खाई कोट की—किले के चारों ओर की खाई, पांणी पिवै न कोइ—कोई वह पानी नहीं पीता, गंगोदिक—गंगाजल।

२३७. सब घटि—सारे जीव जाल के हृदय में; सूनीं सेज न कोइ—किसी की हृदय रूपी सेज उससे खाली नहीं है, भाग तिन्हौं का—उसका क्या भाग्य है, जिहि घट परगट होइ—जिस हृदय मे प्रभु प्रकट होता है।

२३८ पांणी केरा पूतला—मनुष्य पानी का बुलबुला है (क्षणिक है), राख्या पवन सँवारि—उसे प्राणवायु सभालकर रखती है, नांनां—विविध, जोति धरी करतारि—ब्रह्म ने उस बुलबुले में अपनी ज्योति धर दी। अलंकार : रूपकातिशयोक्ति।

२३९. सिर परि हरि का हाथ—सिर पर प्रभु का वरद हस्त है (अर्थात् प्रभु की शरण तुझे प्राप्त है), हस्ती चढ़ि नहीं डोलिये—हाथी पर सवार व्यक्ति का आसन नहीं डोलता, कूकर भुसैं जु लाष—चाहे कुत्ता लाख बार भोंके।

पांडल पंजर मन भवर, अरथ अनूपम बास।
रांम नांम सींच्या अंमी, फल लागा बेसास ॥२४०॥

कबीर किया कछू न होत है, अनकीया सब होइ।
जे किया कुछ होत है, तौ करता औरै कोइ ॥२४१॥

सांई सूं सब होत है, बंदै थैं कुछ नांहि।
राई थैं परबत करै, परबत राई मांहि ॥२४२॥

खूंदन तौ धरती सहै, बाड़ सहै बनराइ।
कुसबद तौ हरिजन सहै, दूजै सह्या न जाइ ॥२४३॥

घर जलौं घर उबरै, घर राखौं घर जाइ।
एक अचंभा देखिया, मड़ा काल कौ खाइ ॥२४४॥

---

२४०. पांडल पंजर––मनुष्य शरीर पांडर पुष्प है, मन भवर––मन भ्रमर है, अरथ अनूपम बास––मन रूपी भ्रमर का अर्थ अर्थात् सद्भाव अनुपम सुगंध है, रांम नांम सींच्या अंमी––शरीर रूपी पुष्प राम नाम रूपी अमृत से सींचा जाता है, फल लागा बेसास––विश्वास रूपी फल लगता है। अलंकार : साँगरूपक।

२४१. अनकीया––जो नहीं किया गया, सब होइ––ईश्वर के विधान के अनुरूप होता है, करता––कर्ता, औरै कोइ––और कोई (प्रभु)। अलंकार : भेदकातिशयोक्ति।

२४२. सांई सूं––स्वामी से, बंदै थैं – मनुष्य से, राई थैं––राई से, परबत करै––पर्वत बना देता है।

२४३. खूंदन––रौंदना, बनराइ––वनराजि, कुसबद––बुरे वचन, हरिजन––प्रभुभक्त, दूजै––दूसरों से। अलंकार : दृष्टान्त।

२४४. घर जालौं––संसार का घर जला दूं, घर उबरै––आध्यात्मिक घर बच जाता है, घर राखै––संसार के घर की रक्षा करने से, घर जाइ––वास्तविक घर (मुक्ति) नष्ट होता है, मड़ा––मरा हुआ (जीवन्मुक्त), काल कौ खाइ––यमराज को जीतता है। अलंकार : विरोधाभास।

मरतां मरतां जग मुवा, औसर मुवा न कोइ।
कबीर ऐसैं मरि मुवा, ज्यूँ बहुरि न मरनां होइ ॥२४५॥

मन मारचा ममिता मुई, अहं गई सब छूटि।
जोगी था सो रमि गया, आसणि रही विभूति ॥२४६॥

सारा सूरा बहु मिलैं, घाइल मिलै न कोइ।
घाइल ही घाइल मिलै, तब रांम भगति दिढ़ होइ ॥२४७॥

हम घर जाल्या आपणां, लिया मुराड़ा हाथि।
अब घर जालौं तास का, जे चलै हमारे साथि ॥२४८॥

कमोदनीं जलहरि बसैं, चंदा बसै अकासि।
जो जाही का भावता, सो ताही कै पास ॥२४९॥

जिस मरनैं थैं जग डरै, सो मेरे आनंद।
कब मरिहूँ कब देखिहूँ, पूरन परमानंद ॥२५०॥

---

२४५. जग मुवा—संसार समाप्त हुआ, औसर मुवा न कोइ—अच्छे मौके पर कोई नहीं मरा (ऐसी मृत्यु नहीं पायी, जिससे दुबारा मृत्यु प्राप्त न हो), मरि मुवा—मृत्यु पायी।

२४६. मन मारचा—मन की गति रोक दी, ममिता मुई—ममत्व का भाव समाप्त हुआ, रमि गया—ब्रह्म में रम गया, आसणि रही विभूति—समाधि के आसन में केवल भस्म रह गयी। अलंकार : वृत्यनुप्रास।

२४७. सारा सूरा—वीर शूर, घाइल—प्रभु भक्ति का घायल, घाइल ही घाइल मिलै—प्रभु भक्ति से घायल को दूसरा वैसा ही घायल मिल जाता है, राम भगति दिढ़ होइ—राम भक्ति दृढ़ होती है।

२४८. घर जाल्या आपणां—अपना घर जला दिया, मुराड़ा—ज्ञान शलाका की मशाल, घर जालौं तास का—उसका घर जला दूंगा।

२४९. कमोदनीं—कुमुदनी, जलहरि—जल, चंदा—चंद्रमा, अकासि—आकाश में, जो जाही का भावता—जो जिसको चाहता है। अलंकार : अर्थान्तरन्यास।

२५०. जिस मरनैं थैं—जिस मृत्यु से, जग डरैं—संसार के लोग भयभीत हैं, सो मेरे आनंद—वह मृत्यु मेरे लिए आनंद का कारण है क्योंकि मरने के बाद ईश्वर-साक्षात्कार प्राप्त होता है, पूरन परमानंद—पूर्ण आनंद स्वरूप ब्रह्म।

प्रेम न खेतौं नींपजै, प्रेम न हाटि बिकाए।
राजा परजा जिस रुचै, सिर दे सो ले जाइ ॥२५१॥

झूठे सुख कौं सुख कहै, मानत है मन मोद।
खलक चबीणां काल का, कुछ मुख मैं कुछ गोद ॥२५२॥

जो ऊग्या सो आँथबै, फूल्या सो कुमिलाइ।
जो चिणियां सो ढहि पड़ै, जो आया सो जाइ ॥२५३॥

पांणीं केरा बुदबुदा, इसी हमारी जाति।
एक दिनां छिप जांहिगे, तारे ज्यूं परभाति ॥२५४॥

बिष के बन मैं घर किया, सरप रहे लपटाइ।
तार्थं जियरै डर गह्या, जागत रैणि बिहाइ ॥२५५॥

---

२५१. नींपजै—उत्पन्न होता, हाटि बिकाइ—बाजार में बिकता है, राजा परजा जिस रुचै—चाहे राजा हो चाहे प्रजा, जिसे चाह है, सिर दे ले जाइ—जो अपना मस्तक चढ़ाता है, उसे प्राप्त होता है।

२५२. झूठे सुख को सुख कहै—संसार में प्राप्त भौतिक सुख को सच्चा सुख कहता है, खलक चबीणां काल का—यह संसार काल का भोजन है, कुछ मुख में—कुछ को उसने मुख में डाल दिया, कुछ गोद—कुछ जीव उसकी गोद में हैं, जो उसके मुख में जाने की प्रतीक्षा में हैं। संसार की नश्वरता पर प्रकाश डाला गया है। अलंकार : रूपक।

२५३. ऊग्या—उदित हुआ, सो आँथवै—वह अस्त होता है, फूल्या सो कुमिलाइ—जो प्रफुल्लित होता है, वह दूसरे क्षण मुरझा जाता है।

२५४. पांणी केरा बुदबुदा—पानी का बुदबुदा, इसी हमारी जाति—यह हमारी मनुष्य जाति, तारे ज्यूं परभाति—जैसे तारे प्रातःकाल होते ही छिप जाते हैं। अलंकार : उदाहरण।

२५५. बिष के बन मैं घर किया—मैंने संसार रूपी विषैले वन में अपना घर बनाया, सरप रहे लपटाइ—यहाँ विषय वासना रूपी सर्प लिपटे रहते हैं। तार्थं जियरै डर गह्या—इससे हृदय में भय लगता है, रैणि बिहाइ—रात-दिन। अलंकार : रूपकातिशयोक्ति।

एक अचंभा देखिया, हीरा हाटि बिकाइ।
परिषणहारे बाहिरा, कौड़ी बदलै जाइ ॥२५६॥

कस्तूरी कुंडलि बसै, मृग ढूंढै बन मांहि।
ऐसैं घटि घटि राम है, दुनिया देखै नांहि ॥२५७॥

कबीर खोजी रांम का, गया जु सिंघल दीप।
रांम तौ घट भीतर रंमि रह्या, जौ आवै परतीत ॥२५८॥

ज्यूं नैनूं मैं पूतली, त्यूं खालिक घट मांहि।
मूरिख लोग न जांणहिं, बाहरि ढूंढ़ण जांहि ॥२५९॥

कबीर हरिरस बरषिया, गिर डूंगर सिषरांह।
नीर मिवांणां ठाहरै, नाऊँ छा परड़ांह ॥२६०॥

आदि मधि अरू अंत लौं अबिहड़ सदा अभंग।
कबीर उस करता की, सेवग तजै न संग ॥२६१॥

---

२५६. हीरा हाटि बिकाइ—प्रभु भक्ति रूपी हीरा संसार रूपी हाट में बिक रहा है, परिषणहारे बाहिरा—उसे परखने वाले जौहरी अज्ञानी हैं, कौड़ी बदलै जाइ—प्रभु भक्ति रूपी अमूल्य हीरा कौड़ी मूल्य पर बेचा जा रहा था। अलंकार : रूपकातिशयोक्ति।

२५७. कस्तूरी कुंडलि बसै—कस्तूरी हिरण की नाभि में रहती है, मृग ढूंढै बन मांहि—हिरण अपनी नाभि में स्थित कस्तूरी बन में खोजता है। अलंकार : अर्थान्तरन्यास।

२५८. खोजी रांम का—प्रभु के अन्वेषक, परतीत—विश्वास।

२५९. नैनूं मैं पूतली—नेत्रों में पुतली समायी हुई है, खालिक—स्वामी (ब्रह्म), मूरिख लोग न जांणहि—अज्ञानी इस बात को नही जानते, बाहरि ढूंढण जांहि—वे अन्तस्थ ईश्वर की खोज में बाहर भटकते हैं। अलकार : उपमा।

२६०. हरि रस बरषिया—प्रभु भक्ति की वर्षा हुई, डूंगर—टीला, सिषराह—चोटियाँ, नीर मिवांणा ठाहरै—पानी नीचे ठहरता है (प्रभु भक्ति रूपी जल भी दीन लोगों के पास ही ठहरता है), नां ऊँछा परडाँह—जल ऊँचे स्थान पर नहीं ठहरता (प्रभु भक्ति अहंमन्य लोगों के पास नहीं ठहरती)।

२६१. मधि—मध्य, अंबिहड—नहीं छूटता, अभंग—अखण्ड, करता—प्रभु, सेवग—सेवक, तजै न संग—साथ नहीं छोड़ता।

पदावली-भाग

पद

कबीर काव्य में पदों का विशिष्ट स्थान है। कबीर निरक्षर संत थे और वे अपने विचारों को गा-गाकर समझाया करते थे। अतः हाथ की सारंगी की तंत्री की झंकार ही उनकी कविता है। कबीर के ये सारे पद उनके विचारों की सरस अभिव्यक्ति करते हैं। इस कारण इन पदों में कहीं उनके दार्शनिक विचारों को वाणी दी गयी है तो कहीं उनकी रहस्यवादी विचारधारा को अभिव्यक्त किया गया है। इन्हीं पदों में उनके सुधारवादी दृष्टिकोण को भी प्रश्रय प्राप्त हुआ है।

कबीर के पदों में ब्रह्म संबंधी उनके विचार प्रकट हुए हैं। वे अपने प्रभु को राम, रामराई, निर्गुण राम आदि नाना नामों से पुकारते हैं। किन्तु उनके प्रभु राम दाशरथी राम न होकर एक आध्यात्मिक सत्ता है जो अविगत, अगम्य, अलख, निरजन ब्रह्म हैं जो अनादि-अनन्त हैं। उनपर कोई संकट नहीं आ पड़ता। वे सारे संसार में समाये हुए हैं। वे सारे संसार का भरण-पोषण करते हैं। सारा संसार उन्हीं से उद्भूत है और प्रलयकाल में उन्हीं में समा जाता है। कबीर के ब्रह्म मन वाणी के अगोचर हैं कि उनका मर्म किसी ने नहीं जाना है। चार वेद, स्मृति ग्रंथ एवं पुराण भी उन्हें समझ नहीं सके हैं। यहाँ तक कि शेष नाग, गरुड और उनके चरणों की दासी कमला भी उनके रहस्य से अपरिचित हैं। संसार का यह भ्रम है कि वह उन्हें नंदनंदन समझता है। संपूर्ण सृष्टि का कारण ब्रह्म की माया है। आत्मा परमात्मा से उद्भूत है और परमात्मा में समा जाती है। यह पंचतत्व निर्मित भौतिक शरीर ही आत्मा को परमतत्व से पृथक् रखता है। जब यह मायात्मक शरीर नष्ट होता है तब आत्मा परमात्मा में मिल जाती है। कबीर ने आत्मा और परमात्मा का संबंध कुंभ-जल और सागर जल के रूपक के द्वारा समझाया है—

जल मैं कुंभ कुंभ मैं जल है, बाहरि भीतरि पांनीं।
फूटा कुंभ जल जलहि समांनां, यहु तत कथौ गियानीं॥

कबीर मृत्यु को जीव का अन्त नहीं मानते। यहाँ किसी की मृत्यु नहीं होती। मृत्यु काया या रूप परिवर्तन मात्र है। मृत्यु के रूप में भौतिक शरीर

के निर्माण के साधन तत्व पंचभूत विघटित हो अपने तत्व में मिल जाते हैं। मृत्यु के रूप में मिट्टी मिट्टी से तथा पवन पवन से मिल जाता है और इस प्रकार रूप के नष्ट होने को संसार के लोग अज्ञानवश मृत्यु की संज्ञा देते हैं।

जीव अज्ञानवश माया मोह में पड़कर अपना अहित कर बैठता है। यह माया ब्रह्म की दासी है, वही ब्रह्म-साक्षात्कार के मार्ग को छोड़कर इतर मार्गों का अनुसरण करने वाले मनुष्य को ठगती है। ब्रह्म माया से परे हैं, किन्तु जीव माया के दास हैं। यह माया नाना प्रपंच करती है और मनुष्य को रूपाकर्षण के पीछे, प्रलोभनों के पीछे भगाती है। सबसे विचित्र बात यह है कि जीव ज्यों ही संसार में आता है यह माया उसका पीछा करती है। कबीर ने समझाया है कि माया जीव की माता है, किन्तु उसका आविर्भाव जीव के आविर्भाव के उपरांत ही होता है। आश्चर्य इस बात का है कि ब्रह्म का अंश जीव अपनी दासी का पैर पकड़ता है और अपने वास्तविक स्वरूप को भूल बैठता है। इसी के कारण उसका मन विषय-वासनाओं के छीलर का पानी पीकर अपनी तृष्णा बुझाने के लिए दौड़-धूप करता है, किन्तु वह उसमें सफल नहीं हो पाता; वह ज्यों ज्यों इस मृगतृष्णा के पीछे भागता है, उसकी प्यास बढ़ती ही जाती है। हाँ, गुरूपदेश से जीव ज्ञान पाकर अपने मन को अन्तर्मुखी बनाकर परमतत्व को प्राप्त कर सकता है।

कबीर ने अपने कई पदों में गोरखनाथ के हठयोग का वर्णन किया है और सहज साधना के द्वारा कुण्डलिनी को ब्रह्मरंध्र में पहुँचाने तथा अनहद नाद का स्वर श्रवण करने और अमृतरस का पान कर जीवन मुक्त होने का उपदेश दिया है। उन्होने यह बतलाया है कि ब्रह्मरंध्र में द्वादश सूर्य से भी अधिक तेजोमय एवं ज्योतिर्मय ब्रह्म का निवास है और उस ज्योति से अपनी ज्योति को मिलाना ही जीव का चरम लक्ष्य है। उनके ये सारे पद उलट-बाज़ियों के रूप में हैं, और उन्हें समझने के लिए योग साधना के पारिभाषिक शब्दों के वास्तविक अर्थ से परिचित होना आवश्यक है।

कबीर हिन्दी के प्रथम रहस्यवादी कवि कहलाते हैं। उनके पदों में रहस्यवाद की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। ब्रह्म के माहात्म्य, अलौकिकता आदि दर्शाने के साथ ही साथ उनसे बिछुड़ी आत्मा की विकलता, बेचैनी एवं अशाँति के भाव भी प्रकट किये गये हैं। यही नहीं, आध्यात्मिक मिलन के रूप मे रहस्यवाद की अंतिम स्थिति का सजीव वर्णन कबीर काव्य को सबसे अधिक भावात्मक एवं मधुर बनाता है। आत्मा को दुलहिन तथा परमतत्व को दूल्हे का रूपक देकर दोनों के मधुर मिलन का सुन्दर चित्र अंकित किया गया है—

दुलहनीं गावहु मंगलचार,
हम घरि आय हो राजा रांम भरतार ॥

कबीर ने अपने समय में प्रचलित धार्मिक पाखंडों, बाह्याडंबरों तथा ढोंगी संप्रदायों पर दृष्टिपात किया है और उनकी कटुनिन्दा भी की है। उन्होंने यह स्पष्ट घोषित किया है—

छह दरसन छ्यानवै पाषंड, आकुल किनहूं न जाना।
जप तप संजम पूजा अरचा, जोतिग जग बौराना।

इस प्रकार निरीह जनता में भ्रष्टाचार फैलाने वाले योगियों, शाक्तों, वैष्णवों को आड़े हाथ लिया है। साथ ही झूठे किताबी ज्ञान पर लोगों में भ्रम फैलाने वाले झूठे संतों को डाँट-फटकार सुनाया है। सभी से यह आग्रह किया गया कि बाह्याडंबर का परित्याग करके मन को अन्तर्मुखी बनाकर हृदयस्थ ब्रह्म का साक्षात्कार करके जीवन का चरम पुरुषार्थ प्राप्त किया जाए। अतः कबीर ने जहाँ भी पाखंडों पर आक्षेप लगाया है, वहाँ उनका दृष्टिकोण सुधारवादी रहा है।

इस प्रकार कबीर के पद नाना प्रकार के विचारों को लेकर लिखे गये हैं। इन पदों में ज्ञान का अक्षय भंडार है, राह भूली पथभ्रष्ट मानवता को अपने वास्तविक स्वरूप को पहचानने का उपदेश भी है। इसी लिए आज भी इन पदों का बड़ा महत्व है।

(राग गौड़ी)

दुलहनीं गावहु मंगलचार;
हम घरि आये हो राजा रांम भरतार ॥ टेक ॥
तन रत करि मैं मन रत करिहूं, पंचतत बराती।
रांमदेव मोरैं पांहुनैं आये, मैं जोबन मैं माती ॥

---

१. दुलहनीं गावहु मंगलचार—कबीर ब्रह्म रूपी प्रिय से अपने मिलन को विवाह रूप में प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि अरी सौभाग्यवती नारियो, तुम लोग विवाह के उपलक्ष्य में मांगलिक गीत गाओ; भरतार—भर्ता; तन रत करि मैं मन रत करिहूँ, पंचतत बराती—मैं प्रिय को अपना तन मन अर्पित करूँगी और पंचतत्व (आकाश, अग्नि, वायु, जल और पृथ्वी) इस विवाह में बराती

सरीर सरोवर बेदी करिहूँ, ब्रह्मा बेद उचार।
रांमदेव संगि भांवरि लैहूँ, धंनि धंनि भाग हमार।।
सुर तेतीसूं कौतिग आये, मुनियर सहस अठ्यासी।
कहैं कबीर हंम व्याहि चले हैं, पुरिण एक अबिनासी।। १।।

बहुत दिनन थैं मैं प्रीतम पाये,
भाग बड़े घरि बैठें आये।। टेक।।

मंगलचार मांहि मन राखौं, राम रसांइण रसना चाषौं।
मंदिर मांहिं भया उजियारा, ले सूती अपनां पीव पियारा।।
मैं रनि रासी जे निधि पाई, हमहि कहा यहु तुमहि बड़ाई।
कहै कबीर मैं कछू न कीन्हां, सखी सुहाग रांम मोहि दीन्हां।। २।।

बनकर आये हैं और वे हमारे इस आध्यात्मिक विवाह के साक्षी हैं। पांहुनै आये—अतिथि बनकर आये; मैं जोबन मैं माती—अपने यौवन पर मैं मस्त हूँ; सरीर सरोवर बदी करिहूँ—शरीर रूपी कुण्ड को वेदी बनाऊँगी; ब्रह्मा बेद उचार—ब्रह्मा पुरोहित बनकर वेदोच्चारण कर रहे हैं; भांवरि लैहूँ—विवाह की परिक्रमा करूँगी; धंनि धंनि—धन्य है धन्य है; सुर तेतीसूं कौतिग आये - तेंतीस करोड़ देवता इस विवाह रूपी कौतुक को देखने आये; मुनिवर सहस अठ्यासी—अटठासी हजार मुनिवर; (यहाँ कबीर ने असंख्य देवताओं, मुनियों, ब्रह्मा आदि का उल्लेख किया, जो आध्यात्मिक विवाह के महाश्चर्य को दिखाने के लिए प्रयुक्त हैं, अन्यथा कबीर बहुदेवोपासक नहीं हैं।) अलकार: साँगरूपक। रहस्यवाद के अंतिम सोपान का सजीव वर्णन हुआ है।

२. बहुत दिनन थैं मैं प्रीतम पाये—बहुत दिनों के बाद मेरे प्रियतम (ब्रह्म) आये; भाग बड़े घरि बैठें आये—मेरा बड़ा सौभाग्य है कि मैंने घर बैठे-बैठे प्रिय को पाया; मँगलचार मांहि मन राखौं—हे सहेलियो, तुम लोग प्रभु के मांगलिक गीतों में अपना मन लगाओ; राम रसांइण रसना चाषौं—राम नाम रूपी रसायन का स्वाद जिह्वा से लो; मंदिर मांहि भया उजियारा—मेरा मन-मंदिर आध्यात्मिक ज्योति से ज्योतित हो उठा; सूती—सती (आत्मा); हमहि कहा यहु तुमहि बड़ाई—इसमें मेरा क्या बड़प्पन है यह प्रभु का बड़प्पन किमुझ अकिंचना को अपनाने आये। अलंकार: साँगरूपक, वृत्यनुप्रास।

ज्यूं भावै त्यूं होइ हमारे ॥ टेक ॥
बहुत दिनन के बिछुरे हरि पाये, भाग बड़े घरि बैठैं आये ॥
चरननि लागि करौं बरिआई, प्रेम प्रीति राखौं उरझाई।
इत मन मंदिर रहौ नित चोषै, कहै कबीर परहु मति धोषै ॥ ३ ॥

मन के मोहन बीठुला, यहु मन लागौ तोहि रे।
चरन कंवल मन मांनियां, और न भावै मोहि रे ॥ टेक ॥
षट दल कंवल निवासिया, चहु कौं फेरि मिलाइ रे।
दहुँ कै बीचि समाधियां, तहाँ काल न पासै आइ रे ॥
अष्ट कंवल दल भींतरा, तहां श्रीरंग केलि कराइ रे।
सतगुर मिलै तौ पाइये, नहिं तौ जन्म अक्यारथ जाइ रे ॥
कदली कुसुम दल भीतरां, तहां दस आंगुल का बीच रे।
तहां दुवादस खोजि ले, जनम होत नहीं मींच रे ॥
बंक नालि के अंतरै, पछिम दिसा की बाट।
नीझर झरै रस पीजिये, तहाँ भंवर गफा के घाट रे ॥
त्रिवेणी मनाह न्हवाइए, सुरति मिलै जौ हाथि रे।
तहां न फिरि मघ जोइये, सनकादिक मिलिहैं साथि रे ॥
गगन गरजि मघ जोइये, तहां दीसै तार अनंत रे।
बिजुरी चमकि घन बरषिहै, तरां भीजत हैं सब संत रे ॥
षोडस कवल जब चेतिया, तब मिलि गए श्री बनवारि रे।
जरामरण भ्रम भाजिया, पुनरपि जनम निवारि रे ॥

---

३. जांन न देहूँ—जाने नहीं दूंगी; ज्यूं भावै त्यूं होइ हमारे—जिस रूप में (पति, पिता, जननी में से) रहना चाहें वैसे आप मेरे बनिये; बरिआई—सेवा-सत्कार; प्रेमप्रीति राखौं उरझाई—प्रेम-बधन में उलझा रखूंगी; चोषै—अच्छी तरह; परहु मति धोषै—दूसरों के धोखेमें मत पड़िये। अलकार : रूपक।

४. बीठुला—स्वामी; षटदल कंवल निवासिया, चहु कौं फेरि मिलाइ—चार दल वाले (चहुं कौं) मूलाधार चक्र से कुण्डलिनी को छः दलवाले स्वाधिष्ठान चक्र में लाकर मिलाने से; दहुं कै बीच समाधिया—दो दलों वाले कमल (आज्ञा चक्र) में समाधि लगाकर; (भ्रू मध्य में आज्ञा चक्र है, जिसे त्रिकुटी कहा जाता है और कुण्डलिनी को यहाँ पहुँचाकर साधक दिव्य दृष्टि पाता है।); अष्ट कंवल दल भीतरां, तहां श्रीरंग केलि कराइ—सुरति कमल-

गुर गमि तैं पाईये, झंषि मरे जिनि कोइ रे।
तहीं कबीरा रमि रह्या, सहज समाधी सोइ रे।। ४।।

गोकल नाइक बीठुला, मेरौ मन लागौ तोहि रे।
बहुतक दिन बिछुरे भये, तेरी औसेरि आवै मोहि रे।। टक।।

दल के भीतर प्रभु अपनी लीलाओं में तन्मय है; जन्म अक्यारथ जाइ—जन्म व्यर्थ जाता है; कदली कुसुमदल—कदली के समान रीढ़ की हड्डी (मूलाधार चक्र ; तहां दस आंगुल का बीच— वहाँ (मूलाधार चक्र से) दस अंगुल की दूरी पर; दुवादस खोजि ले —द्वादश दलवाले अनाहत चक्र को हृदय में खोज लो; जनम होत नहीं मीच रे—जन्म-मृत्यु नहीं होते; बंक नालि—सुषम्ना; अंतरै—अन्तर, अंत में; पछिम दिशा की बाट —बाईं ओर की दिशा (सुषुम्ना ब्रह्मरंध्र में पहुँचकर बाईं ओर को विस्फोट करती है); नीझर झरै—अमृतरस का निर्झर झरने लगता है; भंवर गुफा—ब्रह्मरंध्र; त्रिवेणी मनाहन्हवाइए—इड़ा (गंगा), पिंगला (यमुना) तथा सुषुम्ना (सरस्वती) नामक नाड़ियों के संगमस्थान ब्रह्मरंध्र (त्रिवेणी) में स्नान कीजिए; सुरति—सम्पूर्णानद; गगन गरजि मघ जोइये—शून्य गगन मंडल में अनहद नाद के रूप में मेघ-गर्जन सुनिये; तहाँ दीसै तार अनंत रे—वहाँ ब्रह्मरंध्र में अनंत ब्रह्म का दर्शन कीजिए; बिजुरी चमकि घन बरषहि—ज्योति-स्वरूप भगवान का विद्युत् प्रकाश तथा अनहद नाद रूपी मेघ वर्षा; षोडस कंवल—षोडश दल वाला विशुद्धाख्य चक्र; श्री बनवारि—अनंत ब्रह्म; भाजिया—भाग गया; पुनरपि—पुनः; जनम निवारि—जन्म दूर करो; गुर गमि— गुरु-कृपा; झषि मरे जिनि कोइ—अत्यधिक प्रयत्न करके भी (बिना गुरु-कृपा के) अनत ब्रह्म को कोई नहीं पाता। (कबीरदास ने षड्चक्र भेदन के द्वारा ब्रह्म प्राप्ति का जो वर्णन यहाँ किया है, उससे ऐसा आभास होता है कि उन्होंने भंवरगुफा को हृदय में स्वीकार किया है। क्योंकि भवरगुफा के बाद विशुद्धाख्य चक्र का वर्णन किया है। जो भी हो उनके षड्-चक्र वर्णन में नाथपंथी योग साधना का अक्षरशः पालन नहीं हुआ है।)

५. गोकल नाइक बीठुला—गोकुल नायक बिट्ठल स्वामी; बहुतक दिन बिछुरें भये मुझे (आत्मा को परमात्मा से) बिछुड़े बहुत

करम कोटि कौ ग्रेह रच्यौ रे, नेह गये की आस रे।
आपहिं आप बँधाइया, द्वै लोचन मरहिं पियास रे॥
आपा पर संमि चींन्हिये, दीसै सरब समांन।
इहिं पद नरहरि भेटिये, तूँ छाड़ि कपट अभिमांन रे॥
नां कतहुं चलि जाइये, नां सिर लीजै भार।
रसनां रसहि बिचारिये, सारंग श्रीरंग धार रे॥
साधैं सिधि ऐसी पाइये, किंबा होइ महोइ।
जे दिठ ग्यांन न ऊपजै, तौ अहटि रहै जिनि कोइ रे॥
एक जुगति एकै मिलै, किंबा जोग कि भोग।
इन दून्यूं फल पाइये, रांम नांम सिधि जोग रे॥
प्रेम भगति ऐसी कीजिए, मुखि अंमृत बरिषै चंद।
आपही आप बिचारिये, तब केता होइ अनंद रे॥
तुम्ह जिनि जानौं गीत है, यहु निज ब्रह्म बिचार।
कंवल कहि समझाइया आतम साधन सार रे॥

दिन हुए; औमेरि आवै—स्मृति आती है; नेह गये की आस—प्रभु से बिछुड़ कर प्रेमहीन लोगों की माया ममता में फँसती रही; आपहि आप बंधाइया—मैं स्वयं इस सांसारिक माया बंधन में बंध गयी; लोचन मरहिं पियास—मेरे दोनों नेत्र आप के दर्शनों की प्यास में तरसते हैं; आपा पर संभि चीन्हिये—अपनेपन में (आत्मा में) परमात्मा को खोज लीजिए; दीसै सरब समांन—सब को समान दर्शिये (सब को परमात्मा का रूप समझकर समान भाव से देखिए); इहिं पद नरहरि भेटिये—इस हैसियत से (सम भाव से) प्रभु का साक्षात्कार पाइये; नां कतहुँ चलि जाइये—प्रभु की खोज में कहीं इधर-उधर मत जाइये; नां सिर लीजै भार—सिर पर पाप का बोझ मत उठाइये; रसना रसहि बिचारिये—प्रेमरसपूरित प्रभु का जिह्वा से स्मरण कीजिए; सारंग—प्रेम स्वरूप; साधं सिधि—साधना द्वारा सिद्धि; जे दिठ ग्यान न ऊपजै—जिसकी दृष्टि में ज्ञान ज्योति उत्पन्न नहीं होती; अहटि—अविनाशी; एक जुगति एकै मिलै—एक समय एक की साधना से वह वस्तु मिलती है; किंबा जोग कि भोग—एक समय या तो योग साधना या भोग की साधना की जा सकती है (एक ही समय योग और भोग का संबंध उचित नहीं होगा); इन दून्यूं फल—योग और भोग का आनंद; प्रेम भगति ऐसी कीजिए मुखि अंमृत बरिषै चंद—प्रभु के प्रति प्रेम भक्ति ऐसी होनी चाहिए कि सहस्रार में याति नामक

चरन कंवल चित लाइये, रांम नांम गुन गाइ।
कहै कबीर संसा नहीं, भगति मुकति गति पाइ रे ॥ ५ ॥

अब मैं पाइबौ रे पाइबो ब्रह्म गियान,
सहज समाधें सुख मैं रहिबौ, कोटि कलप विश्राम ॥ टेक ॥
गुर कृपाल कृपा जब कीन्हीं, हिरदै कंवल बिगासा।
भागा भ्रम दसौं दिस सुझ्या, परम जोति प्रकासा ॥
मृतक उठ्या धनक कर लीयै, काल अहेड़ी भागा।
उदय सूर निस किया पयांनां, सावत थैं जब जागा ॥
अबिकत अकल अनूपम देख्या, कहतां कह्या न जाई।
सैंन करै मनहीं मन रहसै, गूंगै जांनि मिठाई ॥
पहुप बिनां एक तरवर फलिया, बिन कर तूर बजाया।
नारी बिनां नीर घट भरिया, सहज रूप सो पाया ॥
देखत कांच भया तन कंचन, बिन बानी मन मांनां।
उड्या बिहंगम खोज न पाया, ज्यूं जल जलहि समांनां ॥
पूज्या देव बहुरि नहीं पूजौं, न्हाये उदिक न नांउं।
भागा भ्रम ये कही कहतां, आये बहुरि न आंऊँ ॥

केन्द्र में स्थित चन्द्रमा से निसृत अमृत का पान कर सके। कह्यि समझाइ या आतम साधन सार—मैंने आत्म साधना का सारतत्व कह समझाया है; भगति मुकति गति पाइ—भावभक्ति के द्वारा मुक्ति की गति प्राप्त होगी। अलकार : रूपक।

६. प्रभु-साक्षात्कार से प्राप्त आनंदानुभूति का वर्णन है। सहज समाधे सुख मैं रहिबौ—सहज समाधि में मैं सुखपूर्वक रहता हूँ। हिरदै कंवल विगासा—हृदयस्थ अनाहतचक्र प्रकाशित हुआ; काल अहेड़ी—काल रूपी शिकारी; उदया सूर—ज्ञान-सूर्य उदित हुआ; निस किया पयांनां—अज्ञान रूपी रात्रि भाग गयी; सैंन करै मनहीं मन रहिसैं, गूंगै जांनि मिठाई—जैसे गूंगा मिठाई का रस अनभव करने पर भी वाणी के अभाव मे प्रकट नहीं कर पाता, उसे इशारे मात्र से अभिव्यक्त करना पड़ता है और उसका अनुभव मन ही मन रह जाता है। पुहुप बिना एक तरबर फलिया—प्रभु-दर्शन का वर्णन करते हुए कबीर कहते हैं कि जान पड़ता है मानो बिना पुष्प के एक वृक्ष फलों से युक्त खड़ा है। नारी बिनां नीर घट भरिया—माया रूपी नारी के अभाव में भी हृदय घट में ज्ञान-जल

आपै मैं तब आपा निरष्या, अपन पैं आपा सूझ्या।
आपै कहत सुनत पुनि अपनां, अपन पैं आपा बूझ्या॥
अपनैं परचै लागी तारी, अपन पै आप समांनां।
कहै कबीर जे आप बिचारै, मिटि गया आवन जांनां॥ ६॥

नरहरि सहजैं हीं जिनि जांना।
गत फल फूल तत तर पल्लव, अंकूर बीज नसांनां॥ टेक॥
प्रगट प्रकास ग्यांन गुरगमि थैं, ब्रह्म अगनि प्रजारी।
ससि हरि सूर दूर दूरतर, लागी जोग जुग तारी॥

भर गया। देखत कांच भया कंचन – देखते-देखते काँच तुल्य मेरा शरीर कंचन के समान शुद्ध, पवित्र एवं द्युतिमय हो गया; उड्या बिहगम खोज न पाया, ज्यूं जल जलहि समांनां—कबीर अद्वैतवादी दर्शन के अनुरूप घोषित करते हैं कि मेरी आत्मा रूपी हंस परमात्मा में ऐसे जा मिला जैसे कि पानी जाकर पानी में समा जाता है। पानी जब पानी से मिलता है तब दोनों का पृथकत्व मिट जाता है। वैसे ही आत्मा जब परमात्मा में लीन हो जाती है, तब उसे अलग पहचाना नहीं जा सकता। आत्मा और परमात्मा एकमेक अद्वितीय हैं। आपै मैं तब आपा निरष्या – तब मैंने अपने आप में अपने वास्तविक स्वरूप परमात्मा को देखा (आत्मा ही परमात्मा है या अहं ब्रह्मास्मि का बोध हुआ)। अपनैं परचै लागी तरी—अपना परिचय या पूर्णत्व का बोध पाकर मैं भव-सागर तर गया। अपन पै आप समांनां—आत्मा में आत्मा समा गयी। आवन जांना—आवागमन। अलंकार: दृष्टांत, बिभावना, रूपक, रूपकातिशयोक्ति।

७. सहजैं ही—सहज योग द्वारा; अंकूर बीज नसांनां—संसार-वृक्ष के विषय-विकार रूपी अंकुर और बीज नष्ट हुआ (संसार की वृक्ष रूप में कल्पना गीता का प्रभाव है।); प्रगट प्रकास ग्यांन गुरगमि थैं—गुरूपदेश से ज्ञान का प्रकाश प्रकट हुआ; ब्रह्म अगनि प्रजारी—ब्रह्म की ओर सुषुम्ना को जगाया (अग्नि सुषुम्ना का नाम है); ससि हरि सूर दूर दूरतर—दूर दूर रहती चंद्र नाड़ी एवं सूर्य नाड़ी (इड़ा-पिंगला); लागी जोग जुग तारी – इड़ा-पिंगला नाड़ियों को साथ मिल कर योग साधना में प्रवृत्त हुआ और काल का अन्त किया; उलटे पवन चक्र षट बेधा—प्राण वायु की साधारण गति

उलटे पवन चक्र षट बेधा, मेंर डंड सरपूरा।
गगन गरजि मन सुँनि समांनां, बाजे अनहद तूरा ॥
सुमति सरीर कबीर बिचारी, त्रिकुटी सगम स्वांमीं।
पद आनंद काल थैं छूटै, सुख मैं सुरति समांनी ॥ ७ ॥

मन रे मन हीं उलटि समांना।
गुर प्रसादि अकलि भई तोको नहीं तर था बेगांनां ॥ टेक ।
नेड़ै थैं दूरि दूर थैं नियरा, जिनि जैसा करि जांना।
औ लौ ठीका चढचा बलींडै, जिनि पीया तिनि मांना ॥
उलटे पवन चक्र षट बेधा, सुँनि सुरति लै लागी।
अमर न मरै मरै नहीं जीवै, ताहि खोजि बैरागी ॥
अनभै कथा कवन सौं कहिये, है कोई चतुर बबेकी।
कहै कबीर गुर दिया पलीता, सो झल बिरलै देखी ॥ ८ ॥

(अधोगति) को उलटकर एवं उसे सुषुम्ना में प्रविष्ट कर मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धाख्य और आज्ञाचक्रों का भेदन किया गया। गगन गरजि—अनहद नाद बज उठा; मन सुँनि समांनां—मन को शून्य मण्डल में समा लेना (यह मनोविलय की स्थिति है जिसमें मन वृत्तिहीन हो ब्रह्ममय हो जाता है)। त्रिकुटी संगम स्वांमी—इड़ा और पिंगला सुषुम्ना के दाएँ-बाएँ होती हुई ब्रह्मरंध्र तक जाती हैं। दोनों नेत्रों तथा नासिका के मूल भाग में स्थित आज्ञाचक्र में वे सुषुम्ना में प्रवेश करती हैं। इस संगम को कबीर ने 'त्रिकुटी संगम' की संज्ञा दी है जहाँ परात्पर शिव का दर्शन होता है। सुख मैं सुरति समांनी—आत्मा ब्रह्मानंद में तन्मय हो जाती है। अलंकार : रूपकातिशयोक्ति।

८. मन रे मन हीं उलटिसमांना—प्राण के साथ मन का निकट संबंध है। जब प्राणवायु को उलट कर सुषुम्ना को ऊर्ध्वमुखी बनाया जाता है तब मन स्वाभाविक रूप से ऊर्ध्वगमन को अपनाता है। अकलि भई—विवेकशील हुआ; बेगांनां—व्यर्थ; नैड़े थैं—निकट से; नेड़ै थैं दूरि दूर थैं नियरा, जिनि जैसा करि जाना—ब्रह्म की दूरी या निकटता मन के संकल्प पर आधारित है। मन के सकल्प के अनुसार वह दूर होता हुआ भी निकट और निकट होता हुआ भी दूर अनुभव होता है। अनभै—अद्भुत; बबेकी—विवेक; पलीता—ज्ञानोपदेश, झल—अलख ज्योति। अलंकार : विरोधाभास।

इहि तत रांम जपहु रे प्रांनीं, बूझौ अकथ कहांणी।
हरि कर भाव होइ जा ऊपरि जाग्रत रैनि बिहानीं ॥ टेक ॥
डाइन डरै सुनहा डोरै, स्यंघ रहै बन घेरे।
पंच कुटुंब मिलि झूझन लागे, बाजत सबद सघेरै ॥
रोहै मृग ससा बन घेरै, पारधी बांण न मेलै।
सायर जलै सकल बन दाझै, मंछ अहेरा खेलै ॥
सोई पंडित सो तत ग्याता, जो इहि पदहि बिचारै।
कहै कबीर सोइ गुरु मेरा, आप तिरै मोहि तारै ॥ ९ ॥

अवधू ग्यांन लहरि धुनि मांडी रे।
सबद अतीत अनाहद राता, इहि बिधि त्रिष्णां षांडी ॥ टेक ॥
बन कै ससै समंद घर कीया मंछा बसै पहाड़ी।
सुइ पीवै बांम्हण मतवाला, फल लागा बिन बाड़ी ॥
षाड बुणै कोली मैं बैठी, मैं खूंटा मैं गाड़ी।
तांणै बाणै पड़ी अनंवासी, सूत कहै बुणि गाढ़ी ॥

---

९. इहि तत—यही तत्व है; बूझौ अकथ कहांणी—अकथनीय कथा समझ लो; रैंनि बिहानीं—रात-दिन; डांइन—माया रूपी पिशाचिनी; स्यंघ रहै बन घेरे—संसार रूपी वन को चारों ओर से घेरे काल रूपी सिंह रहता है; पंच कुटुंबी—पंचेन्द्रियाँ; रोहै मृग—विषय वासनाओं से प्रेरित मन रूपी मृग भागता है (आकर्षणों की ओर); ससा बन घेरै—यह संसार रूपी वन वासनाओं के खरगोशों से घिरा हुआ है; सायर—संसार को घेरे विषय वासनाओं आकर्षणों, प्रलोभनों का सागर; दाझै—जल उठता है; मंछ अहेरा—साधक योगी जो वासनाओं का शिकार खेलता है; तत ग्याता—तत्व ज्ञानी। अलंकार : रूपकातिशयोक्ति।

१०. अवधू—संभवतः नाथ योगियों के लिए प्रयुक्त हुआ है; ग्यांन लहरि—ज्ञान-लहर; धुनि मांडी रे—सहज समाधि में लग जाओ; सबद अतीत अनाहद राता—सहज समाधि में लग जाने से साधक की चित्तवृत्ति संसार से परे अनहद शब्द में रम गयी। त्रिष्णां षांडी—तृष्णा को नष्ट किया; बन के ससै समंद घर कीया—(सहज समाधि से) संसार रूपी वन में भटकता वासनात्मक मन रूपी मछली शून्य शिखर (ब्रह्मरंध्र) पर चढ़ गयी। फल लागा बिन बाड़ी—वहाँ साधक के लिए बिना खेती बाड़ी के ब्रह्मानंद

कहै कबीर सुनहु रे संतौ अगम ग्यांन पद मांहीं।
गुरु प्रसाद सूई कै नांकै हस्ती आवैं जांही ॥ १० ॥

एक अचंभा देखा रे भाइ,
ठाढ़ा सिंघ चरावै गाई ॥ टेक ॥
पहलैं पूत पीछे भई माइ, चेला कै गुरु लागै पाइ।
बैलहि डारि गूंनि घरि आई, कुत्ता कूं लै गई बिलाई ॥
तलि करि साषा ऊपरि करि मूल बहुत भाँति जड़ लागे फूल।
कहै कबीर या पद को बूझैं, तांकू तीन्यूं त्रिभुवन सूझैं ॥ ११ ॥

हरि के षारे बड़े पकाये, जिनि जारे तिनि षाये।
ग्यांन अचेत फिरैं नर लोई, ताथैं जनमि जनमि डहकाए। टेक॥
घोल मंदलिया बैलर बाबी, कऊवा ताल बजावै।
पहरि चोल नांगा दह नाचै, भैसा निरति कहावै ॥

रूपी फल लगा हुआ है। षाड बुणै कोली मैं बैठी—मैं जुलाहा (कबीर की आत्मा) सत्कर्म का वस्त्र बुन रहा हूँ। खूंटा मैं गाड़ी—मैंने बुनाई के काम में आने वाला खूँटा गाड दिया (यहाँ मेरुदंड से संभवतः तात्पर्य है); तांणैं बाणैं—इड़ा पिंगला रूपी धागा (द्रष्टव्य : इड़ा पिंगला ताना भरनी, सुखमन तार से बिनी चदरिया।)। गुरु प्रसाद सूई नांकै हस्ती आवैं जांहीं—गुरु के प्रसाद से असंभव बात भी संभव हो जाती है जैसे सुई की सूक्ष्म नोक से हाथी का आना-जाना भी सरल हो जाता है। अलंकार : अन्योक्ति।

११. अचंभा—साधना क्षेत्र का आश्चर्य; ठाढा—खड़ा होकर; सिंघ—ज्ञान रूपी सिंह; गाई—वाणी रूपी गाय (ज्ञान रूपी सिंह साधना क्षेत्र में वाणी का संचालन करता है।); पहलैं पूत—इस संसार में पहले जीवात्मा रूपी पुत्र का जन्म हुआ; पीछे भई माई—पीछे माया रूपी माता हुई। माया को माता इसलिए बताया गया कि वही जीवात्मा को परमात्मा से पृथक् करती है। वैसे दार्शनिक दृष्टि से भी परमात्मा अपने एक अंश पर माया का आधिपत्य स्वीकार करके ही सृष्टि-रचना करता है। लेकिन जहाँ जीवात्मा के उपरांत माया के आविर्भाव की बात की जाती है तब उसका तात्पर्य है कि जीवात्मा अपने आविर्भाव के बाद ही उसके वश में पड़ती है, अन्यथा वह परमात्मास्वरूप है। चेला के गुर लागैं

स्यंघ बैठा पांन कतरै, घूंस गिलौरा लावै।
उदरी बपुरी मंगल गावै, कछू एक आंनद सुनावै॥
कहै कबीर सुनहुँ रे संतौ गडरी परबत खावा।
चकवा वैसि अगारे निगलै; समंद आकासां धावा॥ १२

पाइ—गुरु (जीवात्मा) अपनी दासी माया के पीछे पड़ता है। (जीवात्मा वास्तव में परमात्मास्वरूप है और माया ब्रह्म की दासी है।) जल की मछली—मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी; तरवर—मेरुदंड; मुरगै खाई—वासना लोलुप जीव को खा लिया (मायाने); वैलहि डारि गूंनि घरि आई—आत्मा (गूंनी) वासना रूपी बैलों को समाप्त करके अपने वास्तविक घर (ब्रह्मरंध्र) में आ पहुँची। कुत्ता कूं ले गई बिलाई—माया ने संसार के प्रति आसक्त जीव (कुत्ता) को अपने बंधन में बाँध रखा। तलि करि साषा ऊपरि करि मूल—इस संसार रूपी वृक्ष की शाखाएँ अधोमुखी तथा मूल ऊर्ध्वमुखी है। लागै जड़ फूल—संसार वृक्ष की जड़ (ब्रह्मरंध्र) में बहुत से फूल (ज्योतिर्मय ब्रह्म) लगे हुए हैं। अलंकार : विरोधाभास, रूपकातिशयोक्ति।

द्रष्टव्य : ऊर्ध्वमूलमधः शाखामश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥–गीता १५.१

१२. हरि के षारे—हरि के भक्त; बड़े पकाये—साधना की भट्टी में पक गये; जिनि जारे—जिन्होंने वासनाओं को जला दिया; ग्यान अचेत नर—अज्ञानी मनुष्य; डहकाये—भटकते हैं; धौल मंदलिया बैलर बावी—सांसारिक प्रलोभन रूपी नाना वाद्य; कऊआ ताल बजावै—वासनापूर्ण जीव रूपी कौआ प्रलोभनों के वश में आकर ताली बजाता है। पहरि चोल नांगा नाचै—विषय-वासना का चोला पहनकर जीव नंगा नाचता है। भैंसा निरति करावै—तामसी वृत्तियों का भैंसा यह नाच नचाता है। सिंघ बैठा पान कतरै—ज्ञान का सिंह भ्रम काट डालता है। घूंस गिलौरा छावे—माया रूपी घूंस आकर्षणों की गिलौरी देकर उस पर प्रभाव डालना चाहती है। उदरी—मुक्तात्मा; गड़री परवत खावै—माया रूपी गडरिनी ज्ञान के पर्वत को नष्ट करना चाहती है। चकवा वैसि अंगारे निगलै—कुण्डलिनी ब्रह्मरंध्र में पहुँच ब्रह्म ज्योति का दर्शन करती है। अकासा धावा—शून्य मंडल में पहुँचकर। अलंकार : रूपकातिशयोक्ति।

चरखा जिनि जरै।
कातौंगी हजरी का सूत, नणद के भइया की सौं ॥ टेक ॥
जलि जाई थलि ऊपजी, आई नगर मैं आप।
एक अचंभा देखिया, बिटिया जायौ बाप ॥
बाबल मेरा व्याह करि, बर उत्यम ले जाहि।
जब लगि बर पावै नहीं, तब लग तूँ हीं ब्याहि ॥
सुबधी कै घरि लुबधी आयौ, आन बहू कै भाइ।
चूल्हे अगनि बताइ करि, फल सौ दीयौ ठठाइ ॥
सब जगही मर जाइयौ, एक बढ़इया जिनि मरै।
सब रांडनि कौ साथ चरषा को धरै ॥
कहै कबीर सो पंडित ग्याता, जो या पदहि बिचारै।
पहलै परचै गुर मिलै तौ पीछै सत गुर तारै ॥ १३ ॥

अब मोहि ले चलि नणद के बीर, अपनै देसा।
इन पंचनि मिलि लूटी हूँ, कुसंग आहि बदेसा ॥ टेक ॥
गंग तीर मोरी खेती बारी, जमुन तीर खरिहानां।
सातौं बिरही मेरे नीपजै, पंचूँ मोर किसानां ॥

---

१३ चरखा—शरीर रूपी चरखा; हजरी—प्रभुसेवा; नणद के भइया—प्रियतम प्रभु; आई नगर मैं आप—मैं (जीवात्मा) अपने जन्म-स्थान छोड़कर संसार रूपी नगर में आ गयी; बिटिया जायौ बाप—माया रूपी बेटी ने जीव रूपी बाप को जन्म दिया (माया प्रभु की पुत्री है और जीव प्रभु का अंश होने से स्वयं प्रभु है।) बाबल मेरा ब्याह करि—हे परमात्मा तुम मेरा (जीवात्मा का) विवाह कराओ। बर उत्यम—उत्तम वर; सुबुधि कै घरि लुबधी आयौ—सुबुद्धि रूप आत्मा के पास लुब्धा माया आयी; आन बहू कै भाइ—वासना ले आकर; अगनि बताइ करि वासना की आग जलाकर; फल सौं दीयौ ठठाइ—प्राप्य फल प्रभु से अलग किया; एक बढ़इया जिनि मरै—एक बढ़ई (परमात्मा) नष्ट नहीं हुआ; रांडनि—पापी आत्मा; पहलै परचै गुर मिलै—प्रथम परिचय में अगर गुरु मिले। अलंकार: रूपक, रूपकातिशयोक्ति और विरोधाभास।

१४. नणद के बीर—प्रियतम प्रभु; देसा—देश; इन पंचनि—इन पाँच इंद्रियों ने; कुसंग आहि बदेसा—पंचेन्द्रियों की कुसंगति ने मुझे अपने देश से

कहै कबीर यहु अकथ कथा है, कहतां कही न जाई।
सहज भाइ जिहिं ऊपजै, ते रमि रहे समाई ॥ १४ ॥

अब हम सकल कुसल करि मांनां,
स्वांति भई तब गोव्यंद जांनां ॥ टेक ॥
तन मैं होती कोटि उपाधि, उलटि भई सुख सहज समाधि।
जम थैं उलटि भया है रांम, दुख बिसर्‌या सुख कीया बिश्राम ॥
बैरी उलटि भये हैं मींता, साषत उलटि सजन भये चीता।
आपा जांनि उलटि ले आप, तौ नहीं व्यापै तीन्यूँ ताप ॥
अब मन उलटि सनातन हूवा, तब हम जांनां जीवत मूवा।
कहै कबीर सुख सहज समाऊँ, आप न डरौं न और न डराऊँ ॥ १५ ॥

संतौ भाई आई ग्यांन की आंधी रे।
भ्रम की टाटी सबै उडांणीं, माया रहै न बांधी ॥ टेक ॥

दूर विदेश में डाल दिया (आत्मा का वास्तविक देश परमधाम है, किन्तु पंचेन्द्रियों की आसक्ति में पड़कर मायावश संसार रूपी विदेश में उसे आना पड़ा।) गंग तीर—इड़ा के तट पर; जमुन तीर—पिंगला के तट पर; सातों विरही मेरे नीपजै—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, छठा मन और सातवीं बुद्धि मेरी फसलें हैं; पंचूं मोर किसान—पाँच कर्मेन्द्रियाँ मेरे किसान हैं; सहज भाव—सहज समाधि; जिहिं उपजै—जिससे उत्पन्न हो।

१५. स्वांति – शान्ति; गोव्यंद—ब्रह्म; उपाधि—व्याधियाँ; उलटि भई सुख सहज समाधि – चित्तवृत्ति को विपरीत दिशा में मोड़कर सहज समाधि में सुख प्राप्त हुआ; बिसर्‌या—भूल गया; बैरी– शत्रु (मानसिक विषय वासनाएँ); साषत उलटि सजन भये—शाक्त लोग भी अपने मार्ग से बाज आ स्वजन बन गये; आपा जांनि उलटि ले आप—अपनी चित्तवृत्ति को बहिर्मुख से अन्तर्मुखी बना कर स्वयं को पहचान लेने पर; तीन्यूँ तापा—दैहिक, भौतिक और आध्यात्मिक दुख; मन उलटि सनातन हूआ—बाह्य प्रलोभनों से विरत हो मन अन्तर्मुखी हुआ तो अपने शाश्वत रूप को प्राप्त किया; सहज समाऊँ—सहज समाधि में लगाऊँ।

१६. भ्रम की टाटी—भ्रम का छप्पर; माया रहै व बाँधी—माया छप्पर को नहीं बाँध रख सकी; हितिचिति की द्वै थूनीं

हिति चत की द्वै थूँनीं गिरानीं, मोह बलींडा तूटा।
त्रिस्नां छांनि परीं घर ऊपरि, कुबधि का भांडा फूटा ॥
जोग जुगति करि संतौं बांधी, निरचू चुवै न पांणीं।
कूड़ कपट काया का निकस्या, हरि की गति जब जांणी ॥
आंधी पीछै जौ जल वूठा, प्रेम हरी जन भींनां।
कहै कबीर भांन के प्रगटें, उदित भया तम षींनां ॥ १६ ॥

अब घटि प्रगट भये रांम राई, सोधि सरीर सनक की नांई ॥टेक॥
कनक कसौटी जैसै कसि लेइ सुनारा, सोधि सरीर भयो तन सारा।
उपजत उपजत बहुत उपाई, मन थिर भयो तबै तिथि पाई ॥
बाहरि षोजत जन्म गंवाया, उनमनीं ध्यांन घट भीतरि पाया।
बिन परचै तन कांच कथीरा, परचै कंचन भया कबीरा ॥ १७ ॥

हिंडोलनां तहाँ झूलै आतम रांम।
प्रेम भगति हिंडोलनां, सब संतति कौ विश्राम ॥ टेक ॥

गिरानीं--मिथ्या प्रेम जनित द्वैत भावना की थूनियाँ गिर पड़ीं (थूनी--छप्पर को आँधी आदि से उड़ने से रोकने के लिए टेक।), मोह बलींडा--मोह रूपी बलींडा; त्रिस्नां--तृष्णा; कुबधि का भांडा फूटा--दुर्बुद्धि का भंडाफोड हुआ; निरचू चुवै न पांणी--निश्चय ही ज्ञानी की एक बूंद भी चू नहीं पड़ेगी; निकस्या--निकाल दिया; बूठा--बरसा; प्रेम हरी जन भींना--प्रेमी हरिभक्त भीग गये; भांन--ज्ञान सूर्य; षींना--क्षीण हुआ। अलंकार: साँगरूपक।

१७. सोधी सरीर कनक की नाँई--तप्त स्वर्ण के समान शरीर पवित्र एवं पावन बना; सुनारा--सुनार; उपजत उपजत बहुत उपाई--कई उपायों से हृदय में भक्ति उत्पन्न करने के प्रयत्न हुए; मन थिर भयो तबै तिथि पाई--मन के स्थिर होते ही उन्मनी स्थिति प्राप्त हुई; बाहरि षोजत जनम गंवाया--भगवान को बाहर खोजते पूरा जन्म गंवाया; कांच कथीर--कच्चा मांस; परचें कंचन भया--प्रभु का परिचय पाते ही शरीर शुद्ध कंचन बना। अलंकार: उपमा, रूपक, पुनरुक्ति।

१८. प्रेमा भक्ति को हिंडोले का उपमान प्रस्तुत किया गया है। चंद सूर दोइ खंभवा--इड़ा और पिंगला इस हिंडोले के दो खंभे हैं;

चद सूर दोइ खंभवा, बंक नालि की डोरि।
झूलें पंच पियारियां, तहाँ झूलै जीय मोर॥
द्वादस गम के अतरा, तहाँ अमृत कौं ग्रास।
जिनि यहु अमृत चाषिया, सो ठाकुर हंम दास॥
सहज सुँनि कौ नेहरौ गगन मंडल सिरिमौर।
दोऊ कूल हम आगरी, जो हम झूलैं हिंडोल॥
अरध उरध गगा जमुनां, मूल कवल कौ घाट।
षट चक्र की गागरी, त्रिवेणीं संगम बाट॥
न द व्यंद की नावरी, रांम नांम कनिहार।
कहै कबीर गुँण गाइ ले, गुर गंम उतरौ पार॥ १८॥

कौ बोनैं प्रेम लागी री, माई को बीनैं।
रांम रसांइण माते री, माई को बीनैं॥ टेक॥
पाई पाई तूँ पुतिहाई पाई की तुरियाँ बेचि खाई री, माई को बीनैं।

बंक नालि की डोरि—सुषुम्ना की डोर; पंच पियारियां—पंचेन्द्रियाँ; जीय—मन; द्वादस गम के अंतरा—द्वादश दल वाले अनाहत चक्र के अन्दर (ऐसा लगता है कि कबीर का तात्पर्य ब्रह्मरंध्र से है क्योंकि अमृत की वर्षा ब्रह्मरंध्र में होती है।); चाषिया—चख लिया; सहज सुंनि को नेहरौ—शून्य मंडल में जो सहज समाधि लगती है, वहीं मेरा पीहर है; सिरिमौर—प्रिय (ब्रह्म); दोऊ कूल हम आगरी, जो हम झूलै हिंडोल—इस शून्य मण्डल में झूलकर हम अपने पीहर और श्वशुरालय (परलोक एवं लोक) दोनों को उजागर करेंगे। आखिरी चार पंक्तियों में दूसरा रूपक बांधा गया है। गंगा-जमुना—इडा-पिंगला; मूल कवल को घाट—मूलाधार चक्र का घाट; षट चक्र की गागरी—षड्चक्र रूपी गगरी, त्रिवेणी संगम—त्रिकुटी का संगम; नादव्यंद की नावरी—अनहद नाद की नौका; रांम नांम कनिहार—रामनाम का केवट; गुरगमि गुरुकृपा। अलंकार : साँगरूपक।

१९. माते—मस्त; तुरियाँ—जुलाहों की कूंची; विधुराई—अलग अलग हुई; करगहि—करघा; चूहै काट्या तांनां—काल रूपी चूहे ने जीवन रूपी ताना काट लिया; अलंकार : रूपक। (कबीर ने यह दिखाया है कि प्रभु प्रेम रूपी वस्त्र बुनने वाला कोई बुनकर नहीं है। कपड़ा बुनने के लिए कुछ पूँजी, कूँची, ताना—बाना, तार सब

नाचै तांनां नाचै बांनां, नाचैं कूँच पुराना री, माई को बीनैं ।।
करगहि बैठि कबीरा नाचै, चूहा काट्या तांना री माई को बीनैं ।।१९।।

मैं बुनि करि सिरांनां हों रांम,
नालि करम नहीं ऊबरे ।। टेक ।।
दखिन कूँट जब सुनहां भूँका, तब हम सुगन विचारा ।
लरके परके सब जागत हैं, हम घरि चोर पसारा हो रांम ।।
तांनां लीन्हां बांनां लीन्हां, लीन्हें गोड के पऊवा ।
इत उत चितवत कठवन लीन्हां, मांड चलवनां डऊवा हो रांम ।।
एक पग दोइ पग त्रेपग, संधें संधि मिलाई ।
करि परपंच मोट बँधि आये, किलि किलि सबै मिटाई हो रांम ।।
तांनां तनि करि बांनां बुनि करि, छाक परी मोहि ध्यांन ।
कहै कबीर मैं बुनि सिरांना जानत भगवांनां हो रांम ।।२०।।

तननां बुननां तज्या कबीर,
रांम नांम लिखि लिया शरीर ।। टेक ।।
जब लग भरौं नली का बेह, तब लग टूटै रांम सनेह ।।

के अतिरिक्त अच्छा बुनकर भी चाहिए । किन्तु मनुष्य पापाचरणों में धन खर्च कर बैठा है । इसके अतिरिक्त अच्छे साधक के अभाव में इड़ा-पिंगला रूपी ताना-भरनी अलग-अलग इधर-उधर पड़े हैं । शरीर रूपी कूँची पुरानी हो गयी है ।)

२०. नालि—जीवन नलिका; दखिन कूँट—दक्षिण दिशा में; सुनहां—कुत्ता (सांसारिक जीव); सुगन—शकुन; लरके परके—यम-नियम रूपी पुत्र; हम घरि चोर—हमारे हृदय में वासनाओं के चोर; तांनां बांना—सत्कर्मों की ओर सकेत; पऊवा—पाव का गोला; एक पग दोई पग त्रेपग—दो तीन कदम आगे बढ़ने पर; संधें संधि मिलाई—पाप कर्मों के ताने-बाने पर सत्कर्मों की सधि मिलाई । मोट बंधि आये—पापों की गठरी बांध आया था; किलिकिलि सबै मिटाई—धीरे धीरे सब मिट गयी; छाक परी मोहि ध्यांन—प्रभु का ध्यान रूपी कलेवा मेरे मार्ग में पड़ा । अलंकार : रूपकातिशयोक्ति ।

२१. जबलग भरौं नली का बेह—जब तक जीवन रूपी नलिका पर आयु रूपी सूत भरता रहूँ; ठाढ़ी रौवै कबीर की माई—कबीर की माता

ठाढी रोवै कबीर की माई, ए लरिका क्यूँ जीवै खुदाइ।
कहै कबीर सुनहूँ री माई, पूरणहारा त्रिभुवन राई॥ २१॥

जुगिया न्याइ मरै मरि जाइ।
घर जाजरौ बलीडौ टेढौ, औलोती डर राइ॥ टेक॥
मगरी तजौं प्रीति पाषें सूँ, डांडी देहु लगाइ।
छींको छोडि उपरहि डौ बांधौ, ज्यूँ जुगि जुगि रहौ समाइ॥
बैसि परहड़ा द्वारा मुँदावौ, ल्यावों पूत घर घेरी।
जेटी धीय सासरै पठवौं, ग्यूँ बहुरि न आवै फेरी॥
लहुरी धीइ सबै कुल खोयो, तब ढिग बैठन पाई।
कहै कबीर भाग बपरी कौ, किलि किलि सबै चुकांई॥ २२॥

मन रे जागत रहिये भाई।
गाफिल होइ वसत मति खोवै, चोर मुसै घर जाई॥ टेक॥

(माया) खड़ी रो रही है; ए लरिका क्यूं जीवै खुदाई—यह लड़का (जीवात्मा) अलग हो (माया से) कैसे जी सकेगा; पूरणहारा—जीव की कमी को पूर्ण करने वाला (ब्रह्म)। अलंकार : रूपकातिशयोक्ति।

२२. जुगिया न्याइ मरै मरि जाइ—संसार मरना चाहे तो मर जाए; घर जाजरौं शरीर रूपी घर जीर्ण हो गया; बलीड़ौ टेढौ—मेरुदंड रूपी बलैंडा (पापों के बोझ से) टेढ़ा हो गया; मगरी—छप्पर का मध्य भाग; पाषें—एक प्रकार का इंट-पत्थर का खंभा जिस पर छप्पर टिका रहता है; डांडी देहु लगाइ—नामस्मरण की डांडी लगा दो; डौ—को; परहड़ी—घर रखने का विशेष प्रकार का स्थान; जेठी धीय—वडी पुत्री (कुण्डलिनी); सासरै पठवौं—ससुराल (शून्य मंडल) भेजूँगा; ग्यूँ—जिससे; लहुरी धीइ—छोटी पुत्री (माया); कहै कबीर भाग वपुरी कौ, किलिकिलि सबै चुकांई—कबीर कहते हैं कि बेचारी बड़ी पुत्री का अपना भाग्य है कि उसे छोटी के किये धरे को चुकाना पड़ रहा है। अलंकार : रूपकातिशयोक्ति, रूपक।

२३. गाफिल होइ—चैतन्य रहित होकर; मति खोवै—बुद्धि खो देगा; चोर—काम क्रोधादि चोर; कोठड़ी—कोठरी; बस्त भाव है सोई—कुण्डलिनी सोयी पड़ी है; ताला कुंजी कुलफ के लागै—

षट चक्र की कनक कोठड़ी, बस्त भाव है सोई।
ताला कुजी कुलफ के लागै, उघड़त बार न होई ॥
पंच पहरवा सोइ गये हैं, बसतैं जागण लागी।
करत बिचार मनहीं मन उपजी, नां कहीं गया न आया ॥
कहै कबीर संसा सब छूटा, रांम रतन धन पाया ॥ २३ ॥

चलन चलन सब को कहत है,
नां जांनौं बैकुंठ कहां है ॥ टेक ॥
जोजन एक प्रमिति नहीं जांनैं, बातनि हीं बैकुंठ बषाणै।
जब लग है बैकुंठ की आसा, तब लग नहीं हरि चरन निवासा ॥
कहें सुनें कैसैं पतिअइये, जब लग तहां आप नहीं जइये।
कहै कबीर यहु कहिये काहि, साध संगति बैकुंठहि आहि ॥ २४ ॥

अपनें बिचारि असवारी कीजै,
सहज कै पाइडै पाव जब दीजै ॥ टेक ॥
दे मुहरा लगांम पहिरांऊँ, सिकली जीन गगन दौराऊँ।
चलि बैकुंठ तोहि लै तारौं, थकहित प्रेम ताजनैं मारूं ॥
जन कबीर ऐसा असवारा, बेद कतेब दहूँ थैं न्यारा ॥ २५ ॥

यहाँ शरीरस्थ षड्चक्रों की ओर संकेत है। पंच पहरवा—पाँच पहरेदार (पाँच ज्ञानेन्द्रियां); बसनैं जागण लागी—कुण्डलिनी ऊर्ध्वमुखी होने लगी; नां कहीं गया न आया—कुण्डलिनी के षड्चक्र भेदन के उपरांत ब्रह्म दर्शन से अद्वैत स्थिति का बोध होता है जिससे जीव को अपना वास्तविक रूप विदित होता है। अलंकार : रूपकातिशयोक्ति, रूपक।

२४. जोजन—जो व्यक्ति; प्रमिति—ब्रह्म ज्ञान; बषानैं—वर्णन करते हैं; पतिअइये—विश्वास करेंगे; आप नहीं जइये—अपने आप नहीं गये; साध संगति बैकुंठहि आहि—साधु-संगति ही बैकुंठ है।

२५. बिचारि असवारि कीजै—विचार रूपी घोड़े पर सवार हो जाइये (विचारों पर नियंत्रण रखिए); सहज के पाइडै—सहज ध्यान रूपी रकाब; गगन दौराऊँ—शून्य शिखर की ओर उसे दौड़ाओ; बैकुंठ तोपि ले तारौं——बैकुंठ में पहुँचाकर तेरा उद्धार करूँगा; थकहित प्रेम ताजनै मारूँ—पूरी शक्ति लगाकर प्रेम रूपी चाबुक मारूँगा; बेद कतेब दहूँ थैं न्यारा—वेद या कुरान दोनों से पृथक्। अलंकार : साँगरूपक।

अपनै मैं रँगि आपनपो जानूं,
जिहि रँगि जांनि ताही कूँ मांनूं ॥ टेक ॥
अभि अंतरि मन रंग समानां, लोग कहैं कबीर बौरानां ॥
रंग न चीन्हैं मूरख कोई जिहि रँगि रह्या सब कोई ॥
जे रंग कबहूँ न आवै न जाई, वहै कबीर तिहि रह्या समाई ॥ २६ ॥

झगरा एक नबेरो रांम,
जे तुम्ह अपनैं जन सूँ काम ॥ टेक ॥
ब्रह्म बड़ा कि जिनि रू उपाया, बेद बड़ा कि जहाँ थैं आया ॥
यहु मन बड़ा कि जहाँ मन मानैं, राम बड़ा कि रांमहिं जानैं ॥
कहै कबीर हूँ खरा उदास, तीरथ बड़े कि हरि के दास ॥ २७ ॥

दास रामहिं जानिहै रे,
और न जानैं कोइ ॥ टेक ॥
काजल देह सब कोई, चषि चाहन मांहि बिनांन ।
जिन लोइनि मन मोहिया, ते लोइन परवांन ॥
बहुत भगति भौसागरा, नानां बिधि नांनां भाव ।
जिहि हिरदै श्रीहरि भेटिया, सो भेद कहूं कहूं ठाउं ॥

---

२६. अपनै मैं रंगि—अपने आप में तन्मय होकर (अंतर्मुखी चित्तवृत्ति का बनकर); जिहि रँगि जांनि ताही कूं मानूँ—जिसने रंग (ब्रह्म) को जान लिया मैं उसका आदर करूँगा; अभिअंतरि मन रंग समानां—मन के आभ्यंतर रंग (ब्रह्म) समाया हुआ है; बौरानां—पागल; चीन्हे—पहचाना; जिहि रंगि रंग रह्या सब कोई—जिस रंग (ब्रह्म) के रंग में सारा ब्रह्माण्ड रंगा हुआ है अर्थात् जिसमें सभी समाया हुआ है; जे रंग कबहूँ न आवै न जाई—जो ब्रह्म आता-जाता नहीं (जो आवागमनहीन है)। कबीर तिहि रह्या समाई—कबीर उसी रंग में रंगा हुआ है।

२७. नबेरो—निपटा दो; जिनि रू उपाया—जिन्होंने जीव को उत्पन्न किया; जहाँ थैं आया—जहाँ से वेदों का उद्गम हुआ।

२८. चषि चाहन मांहि बिनाँन—सुन्दर नेत्रों में ही शोभा प्राप्त करता है; लोइनि—नेत्रों ने; ते लोइन परवांन— वे ही नेत्र सौन्दर्य के प्रमाण हैं; भौसागरा—संसार रूपी सागर; सो भेद कहूँ कहूँ ठाउं—भक्ति का वह भेद किसी किसी स्थान में ही प्राप्त होता

दरसन संमि का कीजिए, जौ गुन नहिं होत समांन।
सोंधव नीर कबीर मिल्यौ है, फटक न मिलै परवान ॥ २८ ॥

कैसे होइगा मिलावा हरि सनां,
रे तू विषै बिकारन तजि तजि मनां ॥ टेक ॥
रे तैं जोग जुगति ज़ान्यां नहीं, तैं गुर का सबद मान्यां नहीं ॥
गंदी देही देखि न फूलिये, संसार देखि न भूलिये ॥
कहै कबीर मन बहु गुँनी, हरि भगति बिनां दुख फुन फुनीं ॥ २९ ॥

कासूं कहिये सुनि रामां, तेरा मरम न जानैं कोई जी।
दास बबेकी सब भले, परि भेद न छानां होई जी ॥ टेक ॥
ए सकल ब्रह्मंड तैं पूरिया, अरू दूजा महि थांन जी।
मैं सब घट अंतरि पेषिया, जब देख्या नैंन समांन जी ॥
रांम रसाइन रसिक हैं, अद्भुत गति विस्तार जी।
भ्रम निसा जो गत करै, ताहि सूझै संसार जी ॥
सिव सनकादिक नारदा, ब्रह्म लिया निज बासजी।
कहै कबीर पद पंक्यजा, अब नेड़ा चरण निवास जी ॥ ३० ॥

है; दरसन संमि का कीजिए जौ गुन नहीं होत समांन—प्रभुदर्शन से क्या होगा, जबकि वैसा गुण आपमें नहीं है; सोंधव नीर—प्रभु-भक्ति रूपी खारा पानी (समुद्र का जल), फटक न मिलै परवान—भटकने पर (तुझे) पत्थर तक नहीं मिलेगा। अलंकार : रूपक, रूपकातिशयोक्ति।

२९. जुगति—युक्ति; फुन फुनी—पुनः पुनः। अलंकार : वृत्यनुप्रास।

३० मरम—रहस्य; दास बबेकी सब भले—आप के सब भक्त ज्ञानी सज्जन हैं; परि भेद न छानां—पर रहस्य नहीं पहचाना; पूरिया – पूर्ण है; अरू दूजा महिं थांन—और कोई दूसरा स्थान (आपका) है; पेषिया— देखा; जग देख्या नैंन समांन जी—आप ऐसे हैं जैसे नेत्र हैं। नेत्रों से सब कुछ देखते हैं, किन्तु नेत्र स्वयं देखे नहीं जाते। वैसे आप के द्वारा स्पष्ट सब कुछ दिखाई देते हैं, पर आप दिखाई देते नहीं निसा— रात्रि; पद पंक्यजा—चरण कमल; अब नेड़ा चरण निवास जी—अब मेरा निवास प्रभु के चरणों के निकट है। अलंकार : विभावना, रूपक, उपमा।

मैं डोरै डोरे जांऊंगा,
तौ मैं बहुरि न भौजलि आंऊंगा ।। टेक ।।
सूत बहुत कछु थोरा, तातैं लाइ लै कंथा डोरा ।
कंथा डोरा लागा, तब जुरा मरण भौ भागा ।।
जहाँ सूत कपास न पूनीं, तहाँ बसै इक मूनीं ।
उस मूनीं सूँ चित लांऊंगा, तौ मैं बहुरि न भौजलि आंऊंगा ।।
मेरे डंड इक छाजा, तहां बसै इक राजा ।
तिस राजा सूं चित लांऊंगा, तौ मैं बहुरि न भौजलि आंऊंगा ।।
जहाँ बहु हीरा घन मोती, तहां तत लाइ लै जोती ।
तिस जोतिहि जोति मिलांऊंगा, तौ मैं बहुरि न भौजलि आंऊंगा ।।
जहां ऊगै सूर न चंदा, तहां देख्या एक अनंदा ।
कस आनंद सूँ चित लांऊंगा तौ मैं बहुरि न भौजलि आंऊंग ।।
मूल बंध इक पावा, तहां सिध गणेस्वर रावा ।
तिस मूलहि मूल मिलांऊंगा, तौ, मैं बहुरि न भौजलि आंऊंगा ।।
कबीरा तालिब तेरा, तहां गोपत हरीगुर मोरा ।
तहां हेत हरि चित लांऊँगा, तौ मैं बहुरि न भौजलि आंऊँगा ।। ३१ ।।

संतौ धागा टूटा गगन बिनसि गया, सबद जु कहां समाई ।
ए संसा मोहि निस दिन व्यापै, कोई न कहै समझाई । टेक ।।

---

३१. डोरै डोरे जांऊंगा —प्रभु भक्ति रूपी, डोरे को पकड़े चलूँ; भौजलि—भाभी (सखी से तात्पर्य), संसार सागर। थोरा—थोड़ा; कंथा— साधुओं का एक वस्त्र विशेष; जुरा मरण भौ भागा—जरा-मृत्यु का भय दूर हुआ; मूनीं—ब्रह्म; लै जोती—निरंजन ज्योति; तिस जोतिहिं जोति मिलांऊंग—उस परम ज्योति से अपनी आत्म ज्योति मिलाऊँगा । जहां ऊगै सूर न चंदा—जहाँ सूर्य चंद्र की गति नहीं (शून्य मण्डल में); अनंदा—आनंदधाम परब्रह्म; मूल बंध—मूलाधार चक्र; सिद्ध गणेस्वर रावा—सिद्धि प्रदान करने वाला श्रेष्ठ गणपति (ब्रह्म-प्राप्ति का कारण स्वरूप कुण्डलिनी); तिस मूलहि मूल मिलांऊंगा—उस कुण्डलिनी रूपी मूल शक्ति को ब्रह्मांड के कारण स्वरूप ब्रह्म से मिला देने पर (प्राणायाम द्वारा कुण्डलिनी को ब्रह्मरंध्र में पहुँचा देने पर); तालिब—ईप्सित वस्तु। अलंकार : श्लेष; रूपकातिशयोक्ति; उल्लेख ।

३२. धागा—प्राण रूपी धागा; गगन बिनासि गया—शरीर नष्ट हुआ; सबद—शब्दब्रह्म; ए संसा—यह संदेह; प्यंड—पिंड शरीर;

नहीं ब्रह्मंड प्यंड पुँनि नांहीं, पंचतत भी नाहीं।
इला प्यंगुला सुषमन नांहीं, ए गुँण कहां समांही।।
नहीं ग्रिह द्वार कछू नहीं, तहियां, रचन हार पुनि नांहीं।
जोवनहार अतीत सदा संगि, ये गुँण तहां समांहीं।।
तूटै बाँधै बँधै पुँनि तूटै, तब तब होइ बिनासा।
तब को ठाकुर अब को सेवग, को काकै बिसवासा।।
कहै कबीर यहु गगन न बिनसै, जौ धागा उनमांनां।
सखें सुनें पढ़ें का होई, जौ नहीं पदहि समांनां।। ३२।।

ता मन कौं खोजहु रे भाई,
तन छूटे मन कहां समाई।। टेक।।
सनक सनंदन जै देवनांमां, भगति करी मन उनहुं न जानां।
सिव विरंचि नारदमुनि ग्यानीं, मन की गति उनहू नहीं जानीं।।
ध्रू प्रहिलाद बभीषन सेषा, तन भीतर उनहुं न देषा।
ता मन का कोइ जानै भेंव, रंचक लीन भया भया सुषदेव।।
गोरष भरथरी गोपीचंदा, ता मन सौं मिलि करैं अनंदा।
अकल निरंजन सकल सरीरा, ता मन सौं मिलि रह्या कबीरा।। ३३।।

पंचतत—पंचभूत (आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी); इला—इड़ा; प्यंगुला—पिंगला; सुषमन—सुषुम्ना; गिह—गृह; तहिंवां—वहाँ; रचनहार—सृष्टिकर्ता; तूटै बंधे, बंधै पुँनि तूटे—जीवन सूत्र टूटता बंधता रहता है (पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननी जठरे शयनं—शंकराचार्य)। सेवग—सेवक; उनमांनां—उन्मनी अवस्था। अलंकार : रूपकातिशयोक्ति।

३३. तन छूटै मन कहाँ समाई—तन के छूट जाने पर मन जहाँ समा जाता है; देवनामा—नमी ऋषि; मन उनहुं न जानां—उन्होंने मन की गति नहीं पहचानी; बिरंचि—सृष्टिकर्ता ब्रह्मा; ग्यानीं—ज्ञानी; ध्रू प्रहिलाद बभीषण सेषा—ध्रुव, प्रह्लाद, विभीषण और अनंत नाग; देषा—देखा; भेव—रहस्य; रंचक—थोड़ा सा; सुषदेव—शुकदेव; गोरष—गोरखनाथ; भरथरी—भर्तृहरि। कबीरदास ने यहाँ 'मन' से संभवतः आत्म की ओर संकेत किया है, क्योंकि तन से छूटने पर आत्मा ही ब्रह्म लीन हो आनद भोग करती है।

भाई रे बिरले दोसत कबीर के, यहु तत बार बार कासौं कहियें ।
भांनण घड़ण संवारण संम्रथ, ज्यूँ राषै त्यूँ रहिए ।। टेक ।।
आलम दुनीं सबै फिरि खोजी, हरि बिन सकल अयानां ।
छह दरसन छ्यांनवै पाषंड, आकुल किनहूँ न जानां ।
जप तप संजम पूजा अरचा, जोतिग जग बौरानां ।
कागद लिखि जगत भुलानां, मनहीं मन न समानां ।।
कहै जोगी कबीर अरु जंगम, ए सब झूठी आसा ।
गुर प्रसादि रटौ चात्रिग ज्यूँ, निहचै भगति निवासा ।। ३४ ।।

कितेक सिव संकर गए ऊठि,
रांम समाधि अजहूं नहीं छूटि ।। टेक ।।
प्रलै काल कहूं कितेक भाष, गये इंद्र से अगणित लाष ।।
ब्रह्मा खोजि पर्यौ गहि नाल, कहै कबीर वै रांम निराल ।। ३५ ।।

---

३४. बिरलै—कोई ही; दोसत—दोस्त; तत—तत्व; भांनण घड़ण संवारण संम्रथ—मेरे परब्रह्म पालन पोषण एवं दोष निग्रह करने में अतीव समर्थ हैं; ज्यूँ राषै त्यूँ रहिए—वे जैसा रखेंगे, मैं वैसा रहूँगा; आलम दुनीं सबै फिरि खोजी—सारे संसार में फिर कर खोज कर देखा; अयानां—अज्ञानी; छह दरसन—यहाँ कबीर का अभिप्राय न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा और उत्तर-मीमांसा नामक छह दर्शनों से नही जान पड़ता। यहाँ दरसन शब्द का प्रयोग कबीर के समय प्रचलित धार्मिक संप्रदायों से है जो मुख्य रूप से वैष्णव संप्रदाय शैव संप्रदाय, शाक्त संप्रदाय, स्मार्त धर्म, नाथ पंथ तथा इस्लाम धर्म थे। छ्यानवै पाषंड - इसका तात्पर्य धर्मों के उपवर्गों, उपसंप्रदायों से था, जो असंख्य थे। आकुल—पूर्णतया; संजम—संयम; अरचा—अर्चना; जोतिग—ज्योतिष; बौरानां—पागल हो गया; कागद लिखि लिखि – धर्मग्रन्थ के नाम पर पोथी की पोथी लिख डालकर; जोगी—नाथ पंथी; जंगम—वीर शैव संप्रदाय से तात्पर्य; चात्रिग—चातक; निहचै—निश्चय ही। अलकार : उपमा।

३५. कितेक—कितने ही; राम समाधि अजहूँ न छूटि—भगवान की समाधि (निद्रा) अब तक नहीं छूटी (भगवान किसी को प्राप्त नहीं हुए); प्रलै काल—प्रलय काल; लाष—लाख; गहि नाल—कमल नाल पकड़े रह गये; वे राम निराल—ब्रह्म अद्भुत हैं।

अच्यंत च्यंत ए माधौ, सो सब मांहि समांनां।
ताहि छाड़ि जे आंन भजत हैं ते सब भ्र मि भुलांनां ॥ टेक ॥
ईस कहै मैं ध्यांन न जांनूं, दुरलभ निज पद मोहीं।
रंचक करुणां कारणि केसो, नाम धारण कौं तोहीं॥
कहौ धौं सबद कहां थै आवै, अरू फिरि कहां समाई।
सबद अतीत का मरम न जानैं, भ्रंमि भूली दुनियाई॥
प्यंड मुकति कहां ले कीजै, जौ पद मुकति न होई।
प्यंडै मुकति कहत हैं मुनि जन, सबद अतीत था सोई॥
प्रगट गुपत गुपत पुनि प्रगट, सो कत रहै लुकाई।
कबीर परमांनंद मनाये, अकथ कथ्यौ नहीं जाई॥ ३६॥

सो कछू बिचारहु पंडित लोई,
जाकै रूप न रेष वरण नहीं कोई॥ टेक॥
उपजै प्यंड प्रांन कहां थैं आवै, मूवा जीव जाइ कहां समावै।
इंद्री कहां करहिं विश्रामां, सो कत गया जो कहता रांमा॥
पंचतत तहां सबद न स्वादं, अलख निरंजन बिद्या न बादं।
कहै कबीर मन मनहि समानां, तब आगम निगम झूठ करि जाना॥ ३७॥

---

३६. माधो—ब्रह्म; आंन भजत हैं—जो अन्य देवताओं का भजन करते हैं; भुलांनां—भ्रमित; ईस कहै—भगवान कहते हैं; ध्यांन न जांनूं—ध्यान से जानने लायक नहीं हूँ; दुरलभ—कठिन; रंचक करुणां—थोड़ी सी दया; नाम धारण कौं तोहीं—आपके नाम स्मरण करने के लिए; सबद कहा थै आव—शब्द ब्रह्म कहाँ से आता है; अरु—और; प्यंड मुकित कहां ले कीजै—पिंड मुक्ति कैसे संभव होगी; जौ पद—जिस परमपद की; सबद अतीत था सोई—ब्रह्म अनहद नाद ही है; प्रगट गुपत—वह ब्रह्म प्रकट होता है फिर अप्रकट होता है; कत रहै लुकाई—कहाँ छिपा रहता है; अकथ—अकथनीय।

३७. पंडित लोई—पंडित लोग; रेष—रेखा; वरण—वर्ण; उपजै प्यड प्रांन कहां थै आवै—शरीर की उत्पत्ति पर उसमें प्राण कहाँ से आता है; मूवा—मरने पर; इंद्री—इंद्रियाँ; कहै कबीर मन मनहि समानां तब आगम निगम झूठ करि जाना—बाह्याकर्षण की ओर भटकता मन जब अन्तर्मुखी हो ब्रह्म की ओर केन्द्रित होता है तब वेदों-शास्त्रों के उपदेश मिथ्या प्रतीत होते हैं।

जौ पैं बीज रूप भगवाना,
तौ पंडित का कथिसि गियाना ॥ टेक ॥
नहीं तन नहीं मन नहीं अहंकारा, नहीं सत रज तम तीनि प्रकारा ॥
विष अमृत फल फले अनेक, बेद रु बोधक हैं तरु एक ॥
कहै कबीर इहै मन माना, कहिधूं छूट कवन उरझाना ॥ ३८ ॥

पांडे कौन कुमति तोहि लागी,
तूं राम न जपहि अभागी ॥ टेक ॥
बेद पुरांन पढत अस पांडे, खर चदन जैसैं भारा ।
रांम नांम तत समझत नांहीं, अंति पड़ै मुखि छारा ॥
बेद पढ्यां का यहु फल पांडे, सब घटि देखैं रांमां ।
जन्म मरन थैं तौ तूं छूटै, सुफल हूंहि सब कांमां ॥
जीव बधत अरु धर्म कहत हौ, अधरम कहां है भाई ।
आपन तौ मुनिजन ह्वै बैठे, का सनि कहौं कसाई ॥
नारद कहै ब्यास यौं भाषैं, सुखदेव पूछौ जाई ।
कहै कबीर कुमति तब छूटै, जे रहौ रांम ल्यौं लाई ॥ ३९ ॥

---

३८. जौ पैं बीज रूप भगवाना—अगर ब्रह्म ही चराचर सृष्टि के लिए बीज स्वरूप है; का कथिसि—क्या कहते हैं; विष अमृत फल फले अनेक—इस ससार रूपी वृक्ष के विषैले और अमृतमय अनेक फल लगते हैं; इहै मन माना—मन ने यही स्वीकार किया है कि संपूर्ण सृष्टि का कारणभूत एक ही ब्रह्म है; कवन उरझाना—कौन व्यर्थ के झंझट में पड़े ।

३९. पांडे कौन कुमति तौहि लागी—संसार में धर्म के नाम पर पाखंड फैलाने वाले हे पांडे, तुम्हें कौनसी दुर्बुद्धि लग गयी है; बेद पुरांन पढ़त अस पांडे, खर चंदन जैसैं भारा—पांडे धार्मिक ग्रंथों का पाठ ऐसा करते हैं जैसे कि गधे पर चंदन का बोझ लादा गया हो। तत—तत्व; अंति पड़ै मुख छारा—मरने के समय तुम्हारे मुख में धूलि पड़ेगी; सुफल हूँहि सब कांमां—तुम्हारे सारे कार्य सफल होंगे; बधत—हत्या करते हो; आपन तौं मुनिजन ह्वै बैठे, का सनि कहौं कसाई—कर्मकाण्ड के फेर में पशुहत्या करके भी स्वयं अपने को मुनि कहलाते हो तो भला कसाई किसे कहें; यौं भाषैं—इस प्रकार कहा; राम ल्यौं लाई—परमात्मा के प्रति प्रेम की अग्नि जलाने पर । अलंकार : उदाहरण, वक्रोक्ति ।

पंडित बाद बदंते झूठा।
रांम कह्यां दुनियां गति पावै, षांड कह्यां मुख मीठा ।। टेक ।।
पावक कह्यां पाव जे दाझै, जल कहि तृषा बुझाई।
भोजन कह्यां भूष जे भाजैं, तौ सब कोई तिरि जाई ।।
नर कै साथि सूवा हरि बोलै, हरि परताप न जानै।
जो कबहू उड़ि जाइ जंगल मैं, बहुरि न सुरतैं आनै ।।
साची प्रीति विषै माया सूँ, हरि भगतनि सूँ हासी।
कहै कबीर प्रेम नहीं उपज्यौ, बांध्यौ जमपुरी जासी ।। ४० ।।

जौ पैं करता बरण बिचारै,
तौ जनमत तीनि डांडि किन सारै ।। टेक ।।
उतपति ब्यंद कहीं थैं आया, जो धरी अरू लागी माया।
नहीं को ऊंचा नहीं को नींचा, जाका प्यंड ताही का सींचा ।।
जे तूँ बांभन बभनीं जाया, तौ आंन बाट ह्वै काहे न आया।
जे तूँ तुरक तुरकनीं जाया, तौ भीतरि खतनां क्यूँ न कराया ।।
कहै कबीर मधिम नहीं कोई, सो मधिम जा मुखि रांम न होई ।। ४१ ।।

---

४०. बाद बदंते झूठा—मिथ्यात्मक वादों संप्रदायों का जिक्र करते हैं; कह्यां—कहने भर से; दुनियां गति पावै—संसार तर जाए; षांड—खांड; पाव दाझै—पैर जल जाए; तृषा बुझाई—प्यास बुझ जाती है; भूष जे भाजै—भूख मिट जाती है; सब कोई तिरि जाई—सब कोई संसार से मुक्त हो जाते; सूवा—तोता; परताप—प्रताप (महिमा); न सुरतैं आना—स्मृति तक नहीं आती; भगतनि सूँ हासी—भक्तों की हँसी उड़ाते हो; जमपुरि जासी—यमलोक ले जाते हैं।

४१. तीनि डांडि—तीन टुकड़ों में; जा धरीं अरू लागी माया—जिसने देह धारण किया, उसे माया लग गयी; जाका प्यंड ताही का सींचा—जिसका शरीर उसी के साँचे में (ब्रह्म के) ढला हुआ है; बांभन बमनी जाया—ब्राह्मणी के गर्भ से पैदा हुआ ब्राह्मण; आन बाट—माता के गर्भ से अलग रास्ता; तुरक—मुसलमान; जाया—जन्म दिया; खतनां कराना—खतरा कराना (गर्भ को नष्ट कराना); मधिम—नीच।

कथता बकता सुरता सोई,
आप बिचारै सो ग्यांनी होई ॥ टेक ॥
जैसै अगिन पवन का मेला, चंचल चपल बुधि का खेला ।
नव दरवाजे दसूं दुवार, बूझि रे ग्यांनी ग्यांन बिचार ॥
देह माटी बोलै पवनां, बूझि रे ग्रान मूवा स कौनां ।
मुई सुरति बाद अहंकार, वह न मुवा जो बोलणहार ॥
जिस कारनि तटि तीरथि जांहीं, रतन पदारथ घटही माहीं ।
पढ़ि पढ़ि पंडित बेद बषांणैं, भीतरि हूती बसत न जांणैं ॥
हूंन मूवा मेरी मुई बलाइ, सो न मुवा जो रह्या समाइ ।
कहै कबीर गुरु ब्रह्म दिखाया, मरता जाता नजरि न आया ॥ ४२ ॥

हम न मरैं मरिहैं संसारा,
हंम कूं मिल्या जियावनहारा ॥ टेक ॥
अब न मरौं मरनैं मन मांनां, तेई मूए जिनि रांम न जांनां ।
साकत मरै संत जन जीवैं, भरि भरि रांम रसांइन पीवैं ॥
हरि मरिहैं तौ हमहू मरिहैं, हरि न परै हंम काहे कूं मरिहैं ।
कहै कबीर मन मनहि मिलावा, अमर भये सुख सागर पावा ॥ ४३ ॥

---

४२. आप बिचारै—अपने स्वरूप पर विचार करता है; नव दरवाजे—शरीर के नवद्वार; दसूं दुवार—दसवाँ द्वार (ब्रह्मरंध्र); बूझि रे—पहचान लो; पवना—प्राणवायु; मूवा स कौनां—जो मरा वह कौन था; मुई सुरति बाद अहंकार—अहंकार, दंभ एवं स्वार्थ मरता है; बोलणहार—आत्मा; तटि तीरथि जांही—तीर्थस्थलों पर जाते हैं; रतन पदारथ घट हीं माहीं—वह रत्नतुल्य बहुमूल्य पदार्थ (परमात्मा) हृदय में है; बेद बषांणैं—वेद का वर्णन करते हैं; भींतरि हूती बसत न जांणै—हृदय में बसनेवाले ब्रह्म को नहीं पहचानते; हूं न मुवा—मेरी आत्मा नहीं मरी; बलाइ—अहं । अलंकार : अर्थान्तरन्यास, रूपकातिशयोक्ति ।

४३. जियावनहारा—जिलानेवाला; न मरौं मरनैं मन मांनां—मन ने मान लिया कि मृत्यु नहीं होगी; मूए—मरेगा; साकत—शाक्त; सुख सागर—आनंदसागर ब्रह्म । अलंकार : वृत्यनुप्रास, रूपकातिशयोक्ति ।

क़ौंन मरै कौन जनमे आई,
सरग नरक कौंने गति पाई ॥ टेक ॥
पंचतत अबिगत थैं उतपनां, एकैं किया निवासा।
बिछुरे तत फिरि सहजि समांनां, रेख रही नहीं आसा ॥
जल मैं कुंभ कुंभ मैं जल है, बाहरि भीतरि पांनीं।
फूटा कुंभ जल जलहि समांनां, यहु तत कथौ गियानीं ॥
आदैं गगनां अंतैं गगनां, मधे गगनां भाई।
कहै कबीर करम किस लागै, झूठी संक उपाई ॥ ४४ ॥

कौंन मरै कहु पंडित जनां,
सो समझाइ कहौ हम सनां ॥ टेक ॥
माटी माटी रही समाइ, पवनै पवन लिया सँगि लाइ ॥
कहै कबीर सुँनि पंडित गुंनी, रूप मूवा सब देखै दूनीं ॥ ४५ ॥

जो को मरै मरन है मीठा,
गुर प्रसादि जिनहीं मरि दीठा ॥ टेक ॥
मूवा करता मुई ज करनीं, मुई नारि सुरति बहु धरनीं ॥
मूवा आपा मूवा मांन, परपंच लेइ मूवा अभिमांन ॥
रांम रमें रमि जे जन मूवा, कहै कबीर अविनासी हूवा ॥ ४६ ॥

---

४४. अबिगत--ब्रह्म; उतपनां--उत्पन्न हुए; एकै किया निवासा – पंचतत्वों का एकीकरण होने से जीव का अस्तित्व हुआ; बिछूरे तत फिरि सहजि समांनां--पंचतत्व के बिछडने पर जीव अपने ब्रह्म में समा जाते हैं। रेख रही नहीं आसा-- मृत्यु के उपरांत जीव की रेखा तक संसार में शेष रहने की आशा नहीं है; जल मैं कुंभ—ब्रह्म सागर में जीव; कुंभ में जल – जीव रूपी घट के अन्दर परमात्मा रूपी जल है; यहु तत कथौ गियानी--ज्ञानी लोग यही तत्व बताते हैं; आदैं—आदि में; मधे--मध्य में; गगनां--शून्य (ब्रह्म); संक—शंका; उपाई—उपाय। अलंकार : अन्योक्ति।

४५. रूप मूवा--शरीर का अंत हुआ।

४६. गुरु प्रसादि जिनहीं मरि दीठा—गुरु के प्रसाद से जिसे मृत्यु का दर्शन हुआ; मूवा--मरा; मुई ज करनीं--कर्मों से विरक्त हुआ; मुई नारि—कामिनी का मोह नष्ट हुआ; मुई सुरति बहु धरनी—रूपाकर्षण से जो विरक्त हुअ; मूवा आपा—अहंकार नष्ट हुआ।

जस तूं तस तोहि कोई न जान,
लोग कहैं सब आनहिं आंन ।। टेक ।।
चारि वेद चहूँ मत का बिचार, इहि भ्रमि भूलि पर्‌यौ संसार।
सुरति सुमृति दोइ कौ बिसवास, बाझि पर्‌यौ सब आसा पास ।।
ब्रह्मादिक सनकादिक सुर नर, मैं बपुरौ धूं का मैं का कर।
जिहि तुम्ह तारौ सोई पैं तिरई, कहै कबीर नांतर बांध्यौ मरई ।। ४७ ।।

लोका तुम्ह ज कहत हौ नंद कौ नंदन, नंद कहौ धूं काकौ रे।
धरनि अकास दोऊ नहीं होते, तब यहु नंद कहाँ थौ रे ।।टेक।।
जांमैं मरै न संकुटि आवै, नांव निरंजन जाकौ रे।
अबिनासी उपजै नांहि बिनसै, संत सुजस कहैं ताकौ रे ।।
लष चौरासी जीव जंत मैं भ्रमत भ्रमत नंद थाकौ रे।
दास कबीर कौ ठाकुर ऐसो, भगति करै हरि ताकौ रे ।। ४८ ।।

निरगुण रांम निरगुंण रांम जपहु रे भाई,
अबिगत की गति लखी न जाई ।। टेक ।।
चारि बेद जाके सुमृति पुरांनां, नौ व्याकरनां मरम न जांनां ।।

---

४७. जस तूं तस तोहि कोई न जान—हे प्रभु, आप जैसे हैं, वैसे आप को किसी ने नहीं जाना; आनहिं आन—बिलकुल भिन्न रूप में; आसा पास—आशा के पाश में; मैं बपुरौ धूं का मैं का कर—मैं बेचारा उनको (ब्रह्म) क्या समझ सकता हूँ; जिहि तुम्ह तारौ सोई पैं तिरई—जिनको आप (ब्रह्म) तारना चाहते हैं, वे ही इस संसार से तिर जाते हैं; नांतर बांध्यौ मरई—नहीं तो वे माया के बंधन में बंधे मरते हैं।

४८. लोका—संसार; नंद कौ नंदन—नंदगोप का पुत्र; धरनि अकास दोऊ नहीं होते—पृथ्वी और आकाश दोनों नहीं थे; जांमैं मरै न सकुटि आवै—जिसके जन्म-मरण नहीं होते तथा जिसपर कोई संकट नहीं आता; नाँव निरंजन जाको—जिसका निरंजन नाम है; उपजै नहि बिनषै—न उत्पन्न होता है न नष्ट होता है; लष चौरासी जीव जंत मैं भ्रमत नंद थाकौ हे— नंद तो जन्म मरण के चक्र में पड़कर चौरासी लाख योनियों में भ्रमित होता रहा है।

४९. अबिपति की गति लखी न जाइ—अगम्य ब्रह्म की गति देखी नहीं जा सकती; सुमृत पुरांना—स्मृति ग्रंथ और पुराण; सेस नाग—शेष नाग; जाके गरुड़ समांना—शेषनाग को जिसका वाहन गरुड़

सेस नाग जाकै गरठ समांनां, चरन कवल कंवला नहीं जांनां ॥
कहै कबीर जाकै भेदै नांहीं, निज जन बैठे हरि की छाँहीं ॥ ४९ ॥

मैं सबनि मैं औरनि मैं हूँ सब ।
मेरी बिलगि बिलगि बिलगाई हो,
कोई कहौ कबीर कहौ रांम राई हो ॥ टेक ॥
नां हम बार बूढ नाहीं हम, नां हमरै चिलकाई हो ।
पठए न जांऊं अरवा नहीं आंऊं, सहजि रहूँ हरिआई हो ॥
वोढन हमर एक पछेवरा, लोक बोलैं इकताई हो ।
जुलहे तनि बुनि पांनि न पावल, फोरि बुनी दस ठांई हो ।
त्रिगुण रहित फल रमि हम राखल, तब हमारौ नाउं रांम राई हो ।
जग मैं देखौं जग न देखै मोहि, इहि कबीर कछु पाई हो ॥ ५० ॥

निगल जाता है; चरन कवल कंवला नहीं जांना—ब्रह्म के रहस्य को उसके चरणों की दासी कमला या लक्ष्मी भी समझ नहीं सकी; जाकै भेदै नांहीं—जिसका रहस्य जाना नहीं जा सकता; निजजन—प्रभु का भक्त ।
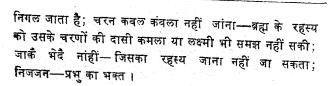
५०. सबनि मैं—सब में; मैं हूँ सब—सारी सृष्टि मैं ही हूँ (अर्थात् मेरा ही विकास है); बिलगि बिलगि—पृथक् पृथक् रूप; ना हम बार—न मैं बालक हूँ; चिलकाई—प्रकाशित; पठए न जांऊं—भेजने पर न कहीं जाताहूँ; अरवा—और; फारि बुनी दस ठांई हो—बुने वस्त्र को फाडकर दस टुकड़े करता है; त्रिगुणरहित—मैं सत्व रज तम गुणों से रहित हूँ; जग मैं देखौं जग न देखै मोहि—मैं संसार को देखता हूँ, पर संसार मुझे देख नहीं पाता; इहि कबीर कछु पाई हो—इस कबीर ने इस ब्रह्म को थोड़ी मात्रा में समझा है ।

आलोचना-भाग

कबीर का जीवनवृत्त

हिन्दी साहित्य में कबीर का विशिष्ट स्थान है। वे संत महात्मा एवं उच्चकोटि के समाज-सुधारक थे। उलझी हुई सामाजिक परिस्थिति, धार्मिक हथकंडे तथा राजनैतिक उलटफेर के समय उनका आविर्भाव हुआ। इन विषम परिस्थितियों में सामंजस्य एवं संतुलन लाने के लिए एक व्यावहारिक जीवन पद्धति जिसे सभी लोग अनायास अपना सकें, की आवश्यकता थी। कबीर ने समाज को देखा-परखा और उसकी नाड़ी पहचान ली। उन्होंने युग-पुरुष बन कर साहसपूर्वक समाज के बाह्याडंबर, कुरीति, अनीति एवं अत्याचार का भंडाफोड किया और लोगों के सामने सच्चा व्यावहारिक मार्ग खोल दिया जिसका अनुसरण करके वे अपने इहलोक एवं परलोक को सुधार सकते थे। पर आश्चर्य की बात है कि कबीर के जीवनवृत्त के संबंध में आज भी हम निश्चयतापूर्वक कुछ नहीं कह सकते हैं, क्योंकि उनसे संबंधित हमारा ज्ञान किंवदन्तियों, जनश्रुतियों पर आधारित है।

जन्म : कबीर की जन्मतिथि आज भी अनिश्चित है। कबीर के जन्म के संबंध में जो अनुमान किये गये हैं, उनकी प्रामाणिकता आज भी संदिग्ध है। कबीर की जन्म तिथि के संबंध में तीन मत उल्लेख्य हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार उनका जन्म संवत् १४५६ वि. में हुआ था। डॉ० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल को यह तिथि मान्य नहीं है; उनके अनुसार कबीर का जन्म सं. १५१७ के बाद हुआ। संतमत के सांप्रदायिक ग्रंथ 'कबीर चरितबोध' में उनकी जन्म तिथि १४५५ वि. स्पष्ट बतायी गयी है। कबीरदास ने अपने ग्रंथ में जयदेव का उल्लेख किया है—

गुर पर सादी जै देव नामां, भगति के प्रेमी इनही है जाना।

बारहवीं तेरहवीं शताब्दी के इन कवियों के उल्लेख से इतना तो स्पष्ट है कि कबीर का जीवनकाल इनके बाद में आता है। अनन्तदास कृत 'कबीर परिचई' में कबीर पर सिकंदर लोदी के द्वारा किये गये अत्याचारों का वर्णन है। अतः कबीर लोदी के समकालीन ठहरते हैं। सिकंदर लोदी का समय १४८८ से १५१७ वि. तक है। 'कबीर परिचई' के आधार पर ये बातें प्रकट होती

हैं—(१) कबीर का जन्म काशी में हुआ (२) वे जुलाहे का काम करते थे (३) वे रामानंद के शिष्य थे (४) सिकंदर लोदी द्वारा वे प्रताडित हुए थे और (५) उन्होंने १२० वर्ष की लंबी आयु पायी थी। कबीर की जन्म तिथि के रूप में अनुमानित अन्य दो तिथियों की संपुष्टि में जब तक कोई ठोस प्रमाण प्राप्त नहीं; तब तक कबीर चरितबोध में उल्लिखित तिथि को स्वीकार किया जा सकता है। अधिकतर विद्वानों ने इसी तिथि को मान्यता दी है।[1]

मृत्यु : कबीर की मृत्यु के संबंध में भी कई तिथियाँ बतायी जाती हैं। नाभादास के भक्तमाल के आधार पर उनकी मृत्यु १४९२ ई. (सं. १५४९ वि) में हुई। बहुत से विद्वान इससे सहमत नहीं हैं। जनश्रुति के अनुसार मृत्यु १५१८ ई (१५७५ वि) ठहरती है—

संवत पंद्रह सै पछतरा, कियो मगहर को गौन।
माघ सुदी एकादशी, रलो पौन में पौन॥

कबीर ने लंबी आयु पायी थी। 'कबीर परिचई' के अनुसार भी यह तिथि ठीक जान पड़ती है क्योंकि उसमें १२० वर्ष की आय पाने का उल्लेख है। इसे प्रामाणिक मानने पर कबीर की सिकंदर लोदी से भेंट (सं. १५५३) आदि घटनाएँ मान्य हो सकती हैं। डॉ. पीताम्बरदत्त बडथ्वाल को भी यह तिथि मानने में कोई आपत्ति नहीं है। किन्तु पं. परशुराम चतुर्वेदी इसका विरोध करते हैं। हमारी दृष्टि में कबीर की मृत्यु सं. १५७५ वि. में मानी जा सकती है।

जन्म स्थान : कबीर के जन्मस्थान के संबंध में दो मत प्रचलित हैं। बात यह है कि कबीर में कई अन्तर्विरोधी बातें पायी जाती हैं। 'काशी मैं हम प्रगट भये हैं रामानंद चिताये' को प्रमाण मानते हुए डॉ. श्यामसुन्दरदास ने कबीर का जन्म स्थान काशी ठहराया है। किन्तु 'पहले दरसन मगहर पाइओ फुनि कासी बसै आई' का उद्धरण देते हुए डॉ. रामकुमार वर्मा प्रभृति विद्वानों का अनुमान है कि कबीर का जन्म मगहर में हुआ था, कालान्तर में वे काशी में आकर बस गये। जनश्रुति के अनुसार तथा 'कबीर परिचई' के आधार पर उनका जन्मस्थान काशी है। वैसे धर्मदास ने भी कबीर को काशी वासी के रूप में स्मरण किया है। अतः उनका जन्मस्थान काशी और निधन मगहर में स्वीकार किया जा सकता है। वैसे कबीर पंथियों के अनुसार कबीर दिव्यपुरुष

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास (सं. डॉ. नगेन्द्र)

हैं जो बार-बार अवतरित होते हैं। उनकी यह भी मान्यता है कि सत्य पुरुष का तेज लहर तालाब में उतरा था।

माता-पिता एवं जाति : जैसे जन्म-मृत्यु की तिथियाँ विवादास्पद हैं वैसे कबीर के माता-पिता तथा जाति-विषयक बातें भी जटिल हो गयी हैं। जिन लोगों ने कबीर को ब्राह्मण माना, वे एक विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से रामानंद के वर-प्रसाद से कबीर का उत्पन्न होना तथा लोकापवाद से भयभीत हो माता द्वारा नवजात बालक को लहर तालाब के पास छोड़ देना सिद्ध करते हैं। एक जगह कबीर ने स्वयं 'पिता हमारे वड्ड़ गोसाईं' घोषित कर इस समस्या को और जटिल बनाया है। उन्होंने अपने को कभी मुसलमान नहीं कहा है। हाँ 'न हिन्दू ना मुसलमान' अवश्य कहा है। किन्तु कबीर को ब्राह्मण माननेवालों ने उन्हें वैष्णव धर्म की ओर अधिक आस्था दिखाते हुए देखा है। इसलिए हजारीप्रसाद, रामकुमार वर्मा, श्यामसुन्दरदास जैसे विद्वान उन्हें हिन्दू घोषित करते हैं। विधवा कन्या से पुत्र-जन्म का रामानंद का आशीर्वाद कपोल कल्पना सी जान पड़ती है। प्रतिभाशाली कबीर को उच्च वर्ण में जात सिद्ध करने की महत्वाकांक्षा यहाँ प्रतिफलित होती है। विद्यापति कवि भी इस प्रकार की महत्वाकांक्षा से बच नहीं पाये थे। कबीर नीरु और नीमा के यहाँ पाले-पोसे गये थे और वे जुलाहे का काम करते थे। कबीर ने कई बार अपने को जुलाहा घोषित किया है—

१) तू ब्राह्मण मैं कासी का जुलाहा, बूझहु मोर ग्यान।
२) जाति जुलाहा नाम कबीरा बनि बनि फिरौं उदासी।
३) मेरे राम की अभैपद नगरी कहै कबीर जुलाहा।

अत: कबीर को ब्राह्मण या मुसलमान मानने की अपेक्षा जुलाहा स्वीकार कर लेना अधिक तर्क युक्त है। आज यही मत अधिक मान्य हो चुका है।[1]

पारिवारिक जीवन :– अधिकतर विद्वान इस बात से सहमत हैं कि कबीर गृहस्थ थे, और उन्होंने धनिया नामक स्त्री से विवाह कर लिया था। कहीं कहीं पत्नी का नाम 'लोई' भी प्राप्त होता है। कबीर के दो संतानें हुई थीं—पुत्र कमाल तथा पुत्री कमाली। कुछ विद्वान कमाल और कमाली के अतिरिक्त जमाल और जमाली को भी उनकी संतान मानते हैं। गुरुग्रंथसाहब में पुत्र कमाल के जन्म से कबीर के वंश नाश का उल्लेख आया है—

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास (सं. डॉ. नगेन्द्र), पृ. ११४.

बूड़ा बंस कबीर का उपज्या पूत कमाल ।

कबीर को विवाहित मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए क्योंकि स्वयं कबीर ने यह स्वीकार किया है कि उन्होंने बिवाह किया था, परन्तु जब नारी को 'विकार' पाया तब उससे अलग हुए । अतः कबीर वैरागी बाद में हुए थे ।

गुरु : कबीर के गुरु रामानंद माने जाते हैं । उन्होंने रामानन्द के मुख से 'राम नाम' का गुरु मन्त्र पायाँ था । वैसे कबीर भी रामानंद के जैसे अपने भगवान को 'राम' संज्ञा देते हैं, हाँ यह दूसरी बात है कि रामानंद के राम अवतारी पुरुष हैं जब कि कबीर के राम निर्गुण निरंजन ब्रह्म । कबीर का वैष्णव संस्कार तथा 'भाव भगति' रामानंद की देन है । भक्तमाल के अनुसार कबीर के गुरु रामानंद थे । यह प्रबल परंपरा द्वारा समर्थित है । हजारीप्रसाद, श्यामसुन्दरदास तथा रामचन्द्र शुक्ल सब इस मत के समर्थक हैं । कबीर के मुसलमान शिष्यों के अनुसार कबीर के दीक्षा गुरु शेख तकी थे । कबीर की यह उक्ति प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत की जाती है—

मानिक पुरहिं कबीर बसेरी,
मदहति सुनी शैख तकि केरी ।
अजी सुनै जौनपुर थाना,
झूँसी सुनि पीरन के नामा ।।

शेख तकि को गुरु मानने में सब से बड़ी कठिनाई यह है कि कबीर ने इस उक्ति में भी शेख तकि का नाम सश्रद्ध नहीं लिया है, जो एक गुरु के प्रति अपेक्षित है । भक्तमाल के अनुमार भी कबीर के गुरु रामानंद सिद्ध होते हैं ।

शिक्षा :— कबीर निरक्षर थे । उन्होंने पुस्तकीय ज्ञान प्राप्त नहीं किया था । स्वयं कबीर की उक्ति 'मसि कागद छुओ नहीं, कलम गह्यौ नहिं हाथ' से यह सर्वविदित है कि उन्होंने कहीं किसी पाठशाला में जाकर या किसी योग्य गुरु के वचनों से लाभ नहीं उठाया था, उनके पास ज्ञान का जो अक्षय भण्डार है वह अनुभव ज्ञान से प्राप्त है । यही नहीं कबीर ने पुस्तकीय ज्ञान की भर्त्सना की है—

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय ।
एकै आषर प्रेम का पढ़ै सो पंडित होय ।।

अतः कबीर का ज्ञान स्वानुभव एवं सानुभूति पर आधारित है । उन्होंने इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए न किसी पुस्तक का अध्ययन किया न किसी का शिष्यत्व ही ग्रहण किया ।

साहित्य : कबीर ने अपनी ओर से कोई रचना नहीं लिखी। वे साधु-फकीर थे जो अनुभव ज्ञान की बातें उपदेश के रूप में दिया करते थे। संभव है कि उनके शिष्य उन उपदेशों को लिपिबद्ध किया करते थे। जो भी हो कबीर की लिखी अपनी कोई पुस्तक नहीं है। किन्तु खोज रिपोर्टों, शोधों के आधार पर उनकी ६३ पुस्तकों के नाम मिलते हैं और एक ही पुस्तक की कई हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं। इनमें भाषान्तर एवं पाठान्तर भी देखे गये हैं। अतः निश्चित है कि ये रचनाएँ समय-समय पर संगृहीत और ये भिन्न-भिन्न लोगों द्वारा लिपिबद्ध हुई हैं। अतः मूल कबीर साहित्य का परिचय पाना अवश्य ही कठिन है। आज 'कबीर-बीजक' उनकी रचनाओं का संग्रह माना जाता है। कबीर की सारी कविता दो रूपों में प्राप्त होती है, जिसे साखी और सबद कहा गया है। साखी अधिकांश दोहों में लिखी गयी है और सबद गाने लायक पदों में। वैसे इनके और भी भाग किये गये हैं जिन्हें बीजक और रमैनी कहते हैं। कबीर के उपलब्ध साहित्य को नागरी प्रचारिणी सभा ने 'कबीर ग्रंथावली' के नाम से प्रकाशित किया है और बहुधा उसे ही कबीर का प्रामाणिक ग्रंथ माना जाता है।

कबीर कालीन परिस्थितियाँ

कबीर जैसे युगगुरु तथा साहित्य के क्षेत्र में भविष्य स्रष्टा मेधावी व्यक्ति का आगमन आकस्मिक घटना नहीं, उसके लिए परिस्थितियाँ प्रेरक होती हैं। जब कभी भी समाज की व्यवस्था डाँवाडोल होती है, धार्मिक रूढ़िवादिता जोर पकडती है या राजनैतिक क्षेत्र में घोर अशान्ति फैलती है तब संत्रस्त जनता का उद्धार करने के लिए कोई न कोई युग पुरुष अवतीर्ण होता है। भारत की उलझी हुई सामाजिक परिस्थिति, धार्मिक हथकंडे तथा राजनैतिक उलटफेर के समय कबीर का आविर्भाव हुआ। कबीर ने तत्कालीन विषम परिस्थितियों में संतुलन लाने तथा एक अधिक व्यावहारिक जीवन पद्धति को जनता के सामने रखने का महान कार्य किया। उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम एकता का नारा बुलंद किया तथा धार्मिक ठेकेदारों की खूब भर्त्सना की। दूषित राजनीति की गंदगी से समाज का उद्धार करने के लिए स्वयं अनेक यातनाएँ सहीं, शासक के निष्ठुर प्रहार सह लिये। अत: कबीर के जीवन एवं व्यक्तित्व का अध्ययन करने के लिए यह आवश्यक है कि कबीर जैसे युगगुरु के निर्माण में प्रेरक तत्वों पर संक्षेप मे प्रकाश डाला जाए।

राजनैतिक परिस्थितियाँ : कबीर एक प्रकार से सिकंदर लोदी के समकालीन सिद्ध होते हैं। लोदी वंश के शासन के पूर्व भारत पर दासवंश तथा तुगलक वंश ने शासन भार अपने हाथ में लिया था। दास वंश के शासको की धर्मांधता सर्व विदित है। उसमें बुरी तरह पिसती जनता आगे चलकर तुगलक वंश के मूर्ख शासकों से आतंकित हुई। मुहम्मद तुगलक जैसा मूर्ख शासक भारतीय इतिहास में शायद ही मिल जाएगा। घड़ी घड़ी राजधानी परिवर्तन, महत्वाकांक्षा, मुद्रा प्रचलन तथा अन्य अस्थिरतापूर्ण योजनाओं के कारण जनता आतंकित होती गयी। फीरोज तुगलक जैसे धर्मांध एवं कट्टर शासक विरले ही प्राप्त होंगे। उन्होंने असंख्य हिन्दुओं को तलवार के घाट उतार कर अपने धर्म को प्रश्रय देने तथा दूसरे धर्मावलंबियों को धर्म भ्रष्ट करने का दुस्साहस किया था। आगे चलकर तैमूर का नृशंस आक्रमण और निष्ठुर नरहत्या तथा लूट-खसीट ने जनता के बचे हुए साहस को भी तहस-नहस कर दिया। इन नृशंस शासकों के उपरांत दिल्ली का शासन सूत्र लोदी वंश के हाथ में आया।

बहलोल लोदी ने हिन्दू-मुस्लिम एकता को अपना लक्ष्य बनाया तथा बिखरे पड़े देश को एक बार एक सूत्र मे बाँधने का प्रयत्न अवश्य किया। किन्तु भारतीय जनता का दुर्भाग्य ही समझिये, उनका शासन अधिक दिन तक नहीं चल सका, शासन भार सिकंदर लोदी के हाथ में आ गया। सिकंदर लोदी भारतीय जनता का भाग्य निर्माता बनकर दिल्ली के सिंहासन पर आरूढ़ हो गया और उसने अपनी धार्मिक कट्टरता के कारण ऐसा भय जनता में पैदा कर दिया कि निरीह हिन्दू जनता का भविष्य संदिग्ध रह गया। वह इतना हिन्दू विद्वेषी था कि उसने अनेक हिन्दुओं की हत्या का। हिन्दू जनता इतनी सशंकित थी कि किसी भी समय उसके आतंक की संभावना थी। कबीर पर मुसलमान की अपेक्षा हिन्दू संस्कार अधिक थे, इसलिए वे भी सिकंदर लोदी के अत्याचार से बच नहीं पाये। उसने कबीर को कई प्रकार से उत्पीडित कर दिया था।

सामाजिक परिस्थिति : देश पर मुसलमानी शासन था और मुसलमान शासक अपनी कट्टरता के कारण हिन्दुओं पर नृशंस अत्याचार करते जा रहे थे। इसका यह परिणाम हुआ कि हिन्दू तथा मुसलमान जनता में पारस्परिक वैमनस्य बढ़ता जा रहा था। हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे को अपना शत्रु मान बैठते थे। इस प्रकार धर्म के नाम पर समाज में अशान्ति फैली हुई थी। इसके अतिरिक्त वर्णाश्रम धर्म एवं जाति प्रथा ने विकराल रूप धारण कर लिया था। भारतीय समाज अनेक जातियों, उपजातियों में विभक्त था। ब्राह्मण और शूद्र की खाई बढ़ रही थी। ब्राह्मण और क्षत्रिय जन्म के नाम पर सम्मान प्राप्त करते जा रहे थे और उनके हाथों शूद्र का अहित होता जा रहा था। इस प्रकार सामाजिक व्यवस्था अस्तव्यस्त एवं विशृंखलित थी। जहाँ ब्राह्मणों क्षत्रियों के द्वारा निम्न जाति के लोग पीडित हो जा रहे थे, वहाँ उच्च वर्गीय लोगों की भी स्थिति सन्तोषजनक नहीं थी; वे ही शासकों की क्रूरता के शिकार थे। मुसलमान शासकों द्वारा ब्राह्मण और उच्च वर्ग के लोग ही अधिकतर प्रताडित होते थे। मुसलमान शासकों द्वारा उच्च वर्गीय हिन्दू जनता का जो अहित होता आ रहा था उसका वर्णन करते हुए वल्लभाचार्य जी ने लिखा है कि म्लेच्छों से आक्रान्त देश नाना प्रकार के पापों का स्थान बन गया। सत्पुरुष पीडित होते जा रहे थे और हिन्दू लोग मृत्यु के घाट उतारे जाते थे या फिर जबरदस्ती मुसलमान बनाये जाते थे। हिन्दुओं के मंदिर तोड़े जाते थे और वहाँ मसजिदें बनायी जाती थीं। शासकों के कृपापात्र अमीर-उमराओं सैनिकों की स्थिति संतोषजनक एवं आडंबरपूर्ण थी। उन्हें सब प्रकार की सुख-सुविधाएँ सहज ही प्राप्त होती थीं। इसका उल्लेख करते हुए लिखा गया है—"मुस्लिम आक्रमण के साथ भारतीय सामाजिक विभाजन में नई कड़ियाँ जुड़ती हैं। सांस्कृतिक चेतना, सामाजिक व्यवस्था, शासन पद्धति और नैतिक धारणा के विचार से मुस्लिम आक्रमणकारी और शासक भारतीय सामाजिक

व्यवस्था से भिन्न थे, शासकों के साथ दो प्रकार की और श्रेणियाँ थीं— उच्च पदस्थ सेनाधिकारियों और साधारण सैनिकों की। विजय के पश्चात् उच्च पदस्थ सेनाधिकारियों को शासन व्यवस्था का अधिकार मिलता था और राजकीय रीति-नीति और रहन-सहन की नकल अमीर-उमरा करते रहे। साधारण सैनिक स्थानीय स्त्रियों से विवाह करते और संतानोत्पत्ति का क्रम चलता रहा। अमीर- उमरा का जीवन साधारण लोगों के जीवन से भिन्न था, ऐश-आराम की सारी सामग्री उपलब्ध थी।''[१]

धार्मिक परिस्थितियाँ : भारतीय धर्म-साधना ने अपना विकृत रूप धारण कर लिया था। बौद्ध धर्म विकृत हो वज्रयान एवं सहजयान में परिणत हो चुका था। उनमें आडंबर, दिखावा एवं भोगवृत्ति बढ़ती जा रही थी। उनकी ओर लोगों की आस्था घटती जा रही थी। इसकी प्रतिक्रिया के रूप में नाथ संप्रदाय ने सिर उठाया। गोरखनाथ ने अद्वैतवाद एवं योग का समन्वय किया। उन्होंने साधना को अधिक महत्व दिया और लोगों को परम कैवल्य की सिद्धि का उपदेश दिया। दसवें द्वार पर ध्यान लगाने, निराकार की उपासना करने तथा अजपाजाप लगाने का उपदेश इस संप्रदाय की विशेषता थी। दूसरी ओर हिन्दुओं के भी नाना संप्रदाय प्रचलित थे जिनमें वैष्णव, शैव और शाक्त प्रधान थे। वैष्णवों के भी अद्वैतवादी, रामानंदी, आदि मत-मंतातरों को प्रश्रय प्राप्त होता जा रहा था। मुसलमानों में भी कई मतवाद प्रचलित थे, जिनमें सूफी मत का प्रभाव बढ़ता जा रहा था। इस प्रकार समाज में धर्मों-संप्रदायों की बाढ़-सी हो गयी थी और प्रत्येक धर्म-संप्रदाय लोगों को ठगता जा रहा था। प्रत्येक धर्म के दो प्रकार के अनुयायी हुए —साधारण गृहस्थ तथा संन्यासी। संन्यासी लोग समाज में प्रतिष्ठित होते जा रहे थे और उन्हें बहुधा राज्याश्रय भी प्राप्त था। जनता को अपनी ओर आकर्षित करने तथा उसपर अपना प्रभाव जमाने के कई चमत्कार दिखाये जाने लगे। गुह्य साधनाओं के अन्तर्गत कृच्छ्र साधनाएँ भी प्रवेश पा रही थीं। इसके परिणाम स्वरूप ज्ञान साधना एवं धर्म साधना के नाम पर ढोंग एवं भ्रष्टाचार का बोलबाला था। गोरख आदि की सहज साधना जिसने सामाजिक भेद भाव को मिटाने की ओर ध्यान दिया था और जो पहले अपनी ओर असंख्य अवर्णों को आकर्षित कर सकी थी, कालान्तर में दूषित होती गयी और उसमें अवधूतों, नग्न घूमते योगियों सिद्धों की संख्या बढ़ गयी, और ये लोग निरीह जनता को पीडित कर अपना स्वार्थ सिद्ध करने लगे। इस प्रकार गोरख का सहज मार्ग कृत्रिम होता गया और जनता का उस पर से विश्वास उड़ रहा था। कबीर के समय तांत्रिक साधना अपनी पराकाष्टा पर थी। तांत्रिक सुरा और सुन्दरी में तल्लीन थे और सिद्धियों का चमत्कार

१. मध्यकालीन संत साहित्य, पृ. ९२.

दिखाकर जनता को बहका रहे थे। बौद्धों जैनों के संप्रदाय भोगवृत्ति से आक्रान्त हो अंतिम साँस ले रहे थे। तांत्रिकों की चरम अभिव्यक्ति शाक्तमत में हो रही थी।

मुसलमान शासकों के द्वारा धर्म का अपमान होते देखकर हिन्दुओं में धर्म रक्षा की भावना बलवती होती गयी। उससे संप्रदायों का श्री गणेश होता गया। वैष्णव धर्म तथा लिंगायत धर्म ने हिन्दू धर्म की प्राण रक्षा में अपूर्व योगदान दिया। रामानंद का श्रीसंप्रदाय रामभक्ति के प्रचार में सफल हुआ। रामानंद ने सीताराम की भक्ति का प्रचार किया तथा उन्होंने ब्राह्मण तथा शूद्र दोनों के लिए भक्ति का द्वार खोल देकर बड़े साहस का कार्य किया। इस प्रकार भारतीय धर्म जहाँ मत-मतांतरों में विभक्त होता जा रहा था, तब उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप एकता का मार्ग भी प्रशस्त करने का उद्यम हो रहा था। इसी समय संत कबीर का आगमन हुआ और उनका ध्यान मुख्य रूप से रूढि-रीतियों पर प्रहार करने, हिन्दू-मुस्लिम एकता को प्रश्रय देने तथा भक्ति के क्षेत्र में सब को समान अधिकार देने की ओर गया।

साहित्यिक वातावरण : कबीर के समय के पूर्व तक का साहित्य दो रूपों में प्राप्त होता है - आश्रयदाता राजाओं की प्रशंसा में रचित साहित्य तथा धार्मिक सिद्धांतों, साधना पद्धतियों को महत्व देकर लिखा गया साहित्य। प्रथम में भारतीय संस्कृति एवं राष्ट्रीय भावना का ह्रास स्पष्ट है तो दूसरे प्रकार के साहित्य में रूढियों, परंपराओं का खंडन-मंडन, मूर्ति-पूजा एवं बहु-देवोपासना आदि का विरोध मुख्य रहा। भाषा की दृष्टि से अपभ्रंश का आधिपत्य कम नहीं हो पाया था और हिन्दी अपभ्रंश से निकलकर अपना स्वतंत्र मार्ग खोज रही थी। धार्मिक साहित्य में संध्या भाषा का अधिक प्रचार था जिसमें उल्टे अर्थों को महत्व दिया जाता रहा। नाथ तथा तांत्रिक साहित्य में चमत्कार की प्रवृत्ति अधिक रही और इसके लिए संध्या भाषा अधिक उपयोगी सिद्ध हुई। इसमें सांकेतिक अर्थ को महत्व दिया जाता था और यह एक प्रकार की सांप्रदायिक शैली का रूप धारण कर चुकी थी। किन्तु यह संध्या-भाषा शैली भी अधिक दिन तक अपना चमत्कार दिखा नहीं पायी, उस की कलई खुलते देर नहीं लगी और आगे चलकर इसने प्रतीक शैली के विकास में अपना योगदान दिया।

सारांश यह कि कबीर कालीन सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक एवं साहित्यिक वातावरण असंतोषजनक था। सब कहीं विषमता स्पष्ट थी। अतः इस विषम परिस्थिति से समाज का उद्धार करने वाले एक युग पुरुष की आवश्यकता थी। कबीर ने यह कार्य अवश्य किया। किन्तु हम यह भी भूल नहीं सकते कि कबीर पर कुछ साधना पद्धतियों का प्रभाव भी पड़ा था और शैली की दृष्टि से उनपर भी संध्या भाषा तथा उलटबाजियों का प्रभाव रहा।

कबीर पर पडनेवाले बाह्य प्रभाव

हिन्दी साहित्य के पूर्वमध्यकाल में सन्त कबीर का प्रभावकारी व्यक्तित्व था। गोरखनाथ के उपरांत कबीर का महान व्यक्तित्व था। कबीर का आविर्भाव उस समय हुआ जब कि हिन्दू और मुसलमान पारस्परिक वैमनस्य के कारण एक-दूसरे के शत्रु बन बैठे थे। इन दोनों धर्मावलंबियों को समझा-बुझाकर एक सामान्य भक्ति मार्ग का प्रचार करने का श्रेय कबीर को प्राप्त है और कबीर द्वारा प्रवर्तित इस सामान्य भक्ति मार्ग को सन्त मत कहते हैं। सामान्य जनता में प्रचलित अंध विश्वास, पौराणिक धर्म के बाह्याचार, जाति-पाँति की भेद-भावना की निरर्थकता का प्रतिपादन करके उन्होंने हिन्दू-मुसलमान धर्मों की एकता की घोषणा की तथा दोनों के सद्भाव से परस्पर मिल-जुलकर रहने की आवश्यकता बतायी। इसके लिए उन्हें उस समय प्रचलित विभिन्न साधना पद्धतियों, उपासना संप्रदायों, धार्मिक अनुष्ठानों का सारतत्व अपनाना पड़ा। इस प्रकार विविध भक्ति मार्गों, उपासना संप्रदायों, दार्शनिक विचार-धाराओं का निचोड लेकर उन्होंने जो नया पंथ चलाया, वही कालान्तर में सन्तमत के नाम से अभिहित हुआ। कबीर की इसी महत्ता से प्रेरित होकर डॉ० ताराचन्द ने कबीर को क्षमतापूर्ण उपदेशक, सच्चे मार्गदर्शक एवं हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रतिष्ठापक सिद्ध किया है।[1]

कबीर के समय भारत में अनेक साधना पद्धतियाँ प्रचलित थीं, जिनका कबीर पर प्रभाव अवश्य पड़ा है। कबीर के समय समाज में शंकराचार्य के अद्वैतवाद को मान्यता प्राप्त थी और विद्वानों में शंकर के मायावाद का बड़ा सम्मान था। वैसे ही गोरखनाथ और उनकी सहज साधना ने लोगों को अपनी ओर आकृष्ट किया था। नाथ पंथ में निरंजन की महिमा स्वीकृत थी तो सामाजिक क्षेत्र में भेदभाव को मिटाने का प्रयत्न किया। रामानुजाचार्य के द्वारा प्रवर्तित श्रीसंप्रदाय की ओर भी जनता की स्वाभाविक श्रद्धा थी। उन्होंने राम की उपासना को प्रश्रय दिया। सूफी सिद्धों-सन्तों की ओर भी जनता का सहज आकर्षण था। कबीर ने इन सभी संप्रदायों के सारपूर्ण तत्वों का संग्रह

---

१. इन्फ्लुएनज आफ इस्लाम, पृ. १४६.

किया और उनका उपदेश दिया। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में हिन्दू शास्त्रों के जीव, ब्रह्म, माया, तत्वमसि, त्रिकुटी, षड्रिपु की बातें; हठयोग के साधनात्मक रहस्यवाद के चंद, सूर, इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, नाद, बिंदु, अमृत, कँवल आदि शब्द बार बार प्रयुक्त हुए हैं।

कबीर पर भारतीय वेदान्त दर्शन का प्रभाव सबसे अधिक है। वेदान्त के अनुसार जगत ब्रह्म का कल्पित रूप है। ब्रह्म निर्विकार स्वरूप है। भारतीय ब्रह्मवाद एकेश्वरवादी रहा है और उसे प्राप्त करने के लिए ज्ञान को अपरिहार्य समझाया गया है। वेदान्त दर्शन के अनुसार 'सोऽहम्' में ईश्वर और जीव को अभिन्न तथा दोनों के बीच दिखायी देने वाले भेद को माया या भ्रम कहा गया है। कालान्तर में अद्वैतवाद के प्रवर्तक श्रीमद् शंकराचार्य ने औपनिषदिक शिक्षा-दीक्षा का प्रचार किया; उनके अनुसार ब्रह्म ही एक मात्र सत्य है और जगत मिथ्या है। उन्होंने कहा भी "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या।' इस सिद्धान्त का नाम अद्वैतवाद है। शंकर प्रवर्तित ब्रह्म चिन्मात्र होने पर भी पूर्ण एवं सत्य ज्ञानानंद स्वरूप है। उनके अनुसार ब्रह्म विभु है, निष्काम, निर्गुण और निर्विशेष है। 'तत्वमसि' के अनुष्ठान से जीव और ब्रह्म का भिन्न ज्ञान तिरोहित हो जाता है और जीव मुक्ति लाभ को पाकर स्वरूप को पाता है। जीव को अपने स्वरूप ज्ञान में अज्ञान ही बाधक तत्व है। यह अज्ञान माया स्वरूप है। शंकर के अनुसार माया और अविद्या एक ही हैं। उनके अनुसार अंतःकरण की शुद्धता से ज्ञान उत्पन्न हो ईश्वर स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त किया जा सकता है।

कबीर पर अद्वैतवादी इस सिद्धान्त का प्रभाव पर्याप्त मात्रा में पड़ा है। कबीर भी शंकर के जैसे अपने ईश्वर को निर्गुण, निराकार और सच्चिदानंदमय ही मानते हैं। उन्होंने घोषित किया है—"दसरथ सुत तिहुँ लोक बखाना, राम नाम का मरम है आना।" कबीर का यह निर्गुण ब्रह्म वेदों, उपनिषदों की भी देन है, क्योंकि ऋग्वेद के पुरुष सूक्त के अनुसार संसार की सृष्टि के कारण स्वरूप सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक एक पुरुष है, जिसे ब्रह्म कहा गया है। इसी ब्रह्म को श्वेताश्वतरोपनिषद् में सर्व प्रथम निर्गुण तथा मन, वचन और नेत्रों के परे कहा गया है—

> निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरंजनम्।
> अमृतस्य परं सेतु दग्धेन्धनमिवानलम्॥

कबीर ने स्पष्ट बताया है कि मन की एकाग्रता से ही यह ब्रह्म प्राप्त होता है। पर साधना के अंत में "जहँ देखौं तहँ एकही साहब का दीदार' का अनुभव होता है।

संसार की स्थिति भी कितनी क्षणिक एवं नश्वर है! 'पानी केरा बुदबुदा' यही मानव जाति की स्थिति है; पर मानव-आत्मा नित्य चिरंतन, परमतत्व से उद्भूत और अंत में उसी में समाविष्ट होती है। ब्रह्म तथा जीवात्मा का संबंध सागर और तरंग का है। इसी बात को कबीर ने एक दूसरे ढंग से व्यक्त किया है—

जल मैं कुंभ, कुंभ में जल है, बाहर भीतर पानी।
फूटा कुंभ जल जलहि समाना, इहि तथ कथ्यौ ग्यानी।।

कबीर पर सांख्य दर्शन का प्रभाव भी स्वीकार किया जा सकता है। सांख्य के अनुसार ब्रह्म पुरुष है और जीवात्मा स्त्री-रूप है। कबीर ने उसी के आधार पर परमात्मा को पुरुष और जीवात्मा को स्त्री मानकर अपने को 'राम की बहुरिया' मानकर अपनी रहस्यवादी भावना की अभिव्यक्ति की।

कबीर काव्य में और यहाँ तक कि संतमत में गुरु की जो महत्ता प्रतिपादित की गयी है, वह वैदिक देन है। उपनिषदों में गुरु को भगवान कहा गया है। अर्थात् गुरु ब्रह्म तुल्य है क्योंकि उसने आत्म साक्षात्कार के द्वारा ब्रह्मतत्व को प्राप्त कर लिया है। ऐसे गुरु ही आप्त पुरुष हैं क्योंकि उनके शब्द प्रमाण रूप हैं। इसी वैदिक विचारधारा के अनुसार संत कबीर ने गुरु को भगवान के समान महत्व प्रदान किया है और घोषित किया है—

सतगुरु की महिमा अनँत, अनँत किया उपगार।
लोचन अनँत उघाड़िया, अनँत दिखावण हार।।

बौद्ध दर्शन के दुखवाद का प्रभाव भी कबीर पर पड़ा है। बुद्ध ने सारे संसार को दुखमय बताया है, जिससे मुक्ति पाने के लिए सम्यक् संकल्प, सम्यक् दृष्टि, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्म, सम्यक् जीविका, सम्यक् स्मृति तथा सम्यक् समाधि को आवश्यक माना है। इस दुखवाद का प्रभाव ही मानिये, कबीर भी ब्रह्म-प्राप्ति में दुख की महत्ता स्वीकार करते हुए बताते हैं—

हँस हँस कंत न पाइया, जिन पाया तिन रोय।
हँसी खेले पिउ मिलै तो कौन दुहागिन होय।।

कबीर और अन्य संतमत के कवियों पर गोरखनाथ के हठयोग का व्यापक प्रभाव उनकी कविताओं में परिलक्षित होता है। हठयोग साधारणतया प्राणनिरोध प्रधान साधना-पद्धति है। इसके अनुसार शरीर के अन्दर इड़ा, पिंगला तथा सुषुम्ना नामक तीन प्रमुख नाडियाँ हैं। इसी सुषुम्ना से लगकर

सर्पाकार कुण्डलिनी पीठ में स्थित मेरुदंड में है। यह सर्पाकार कुण्डलिनी सदा सोती रहती है। योग साधना के द्वारा सर्पाकार कुण्डलिनी को जगाया जाता है। जाग्रत कुण्डलिनी ऊर्ध्वमुखी हो शरीर में स्थित छह्चक्रों का भेदन करके मस्तिष्क में शून्य मंडल में पहुँच जाती है तो योगी समाधिस्थ हो अनहद नाद का श्रवण करता है और सहस्रार चक्र में स्थित चंद्रमा से निसृत अमृत का पान करता है। कबीर ने इस योग प्रक्रिया का बार-बार उल्लेख किया है।

सुरति समांणी निरति मैं, अजपा मांहै जाप।
लेख समांणां अलेख मैं, यूँ आपा मांहैं आप॥

यही नहीं मनुष्य शरीर को कम्बल का रूपक देते हुए उसके बुनने के प्रसंग में कबीर का कथन है—

इंगला पिंगला ताना भरनी, सुखमन तार से बिनी चदरिया।
आठ कँवल दल चरखा डोलै, पाँच तत्व गुन बिनी चदरिया॥

कबीर ने अपनी साधना को सुरति शब्द योग कहा है। अर्थात् "शब्द ब्रह्म रूप है और सुरति आत्मारूप। आत्म-साधना के सहारे शब्द-ब्रह्म में लीन करने की प्रक्रिया को ही सुरति शब्दयोग कहा गया है।" आध्यात्मिक साधना, पिपीलिका मीन और विहंगम की प्रतिष्ठा चित्तवृत्ति निरोध के द्वारा मन को एकाग्र करके परमत्व में तन्मय होने के लिए की गयी है—

कंठ की जाप पिपीलिका, स्वांसा की है मीन।
सूरत जाप विहग है, जानत परम प्रवीन॥

कबीर की इस सुरति-साधना का आधार हठयोग है। "चंद्र--सूर को एकै घर लाइ" कहकर कबीर ने इस हठयोग की प्रक्रिया की ओर संकेत किया है। हम पहले ही कह आये हैं कि कबीर-काव्य में इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना का प्रयोग बार-बार हुआ है। इड़ा को गंगा, पिंगला को यमुना और सुषुम्ना को सरस्वती भी कहा जाता है। इस प्रकार इन तीनों का संगम मनुष्य शरीर के अन्दर ही करके कबीर ने अपना प्रयाग संगम बनाया है तो उन्हें फिर बाहरी प्रयाग या काशी की क्या पड़ी है? कबीर के अनुसार जननेन्द्रिय और गुदा के बीच मूलाधार चक्र की स्थिति है, जहाँ सूर्य की स्थिति है। वे जननेन्द्रिय को स्वाधिष्ठान चक्र मानते हैं। ब्रह्मा और सरस्वती इस चक्र के देवता हैं। नाभि ही मणिपूर चक्र है और मस्तिष्क को ही सहस्रदल चक्र माना गया है। आज्ञा चक्र के लिए भँवरगुफा कहा है। हृदय ही उनका आनंद चक्र है और 'सोऽहम्' शब्द की ध्वनि है।

कबीर के अनुसार ओंकार का स्थान त्रिकुटी है। यह त्रिकुटी भौंहों के मध्य में वह स्थान है, जहाँ पर इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियाँ आकर मिलती हैं। यहीं पर नाथ पंथियों का आज्ञाचक्र भी है। इसी के द्वारा साधक साधनावस्था में विश्व ब्रह्माण्ड को देख सकता है।

कबीर पर नाथपंथियों का प्रभाव एक अन्य स्थान पर भी पाया जा सकता है। नाथपंथियों के प्रभाव में आकर उन्होंने भी स्थूल ऋग्वेद आदि की निन्दा की है और सूक्ष्मवेद प्रणव को पहचानने की बात कही है। कबीर ने भी प्रणव की महिमा स्वीकार कर के उसकी उपासना की है—

> चारि बेद चहूँ मत का बिचार।
> इहि भ्रंमि भूलि पर्यो संसार।

कहने का तात्पर्य यह है कि कबीर पर हठयोग का प्रभाव अवश्य है। पर इसका यह आशय कदापि नहीं कि कबीर इसी कठिन साधना को सिद्धि का एकमात्र सोपान मानते हैं। कबीर ने इसे भी एक सीमा तक ही स्वीकार किया है। तभी तो वे कहते हैं—

> जपा मरै, अजपा मरै अनहद हूँ मरि जाय।

कबीर ने यह समझ लिया था कि यह साधना-पद्धति साधारण जनता के लिए सुगम नहीं है। अतः कबीर ने जनता को समझाया कि इन पद्धतियों को देख कर भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है, जिसने नाम तथा भक्ति को पहचान लिया है, वह अवश्य ही जीवनमुक्त है। देखिए—

> नादी वादी पढ़ना गुनना, बहु चतुराई खीना।
> कह कबीर सो परै न परलै नाम भक्ति जिन चीना॥

कबीर की इस 'नाम भगति' पर वैष्णवों का पर्याप्त प्रभाव है। कबीर के समय रामानंदीय संप्रदाय का बड़ा ही आदर-सम्मान था। इस संप्रदाय में प्रेमा-भक्ति का विशिष्ट स्थान है। कबीर ने स्थान-स्थान पर 'भाव-भगति' की श्रेष्ठता सिद्ध की है। कबीर की यह भाव भगति वैष्णवों की प्रेमा-भक्ति का ही दूसरा नाम है। कबीर को बहुधा विद्वानों ने ज्ञानमार्गी सिद्ध करने का दुस्साहस किया है। किन्तु वास्तव में देखा जाए तो कबीर-साहित्य का मूल स्वर भक्ति तत्व का है और इसी भक्ति तत्व या ईश्वर पर अनन्य प्रेम के कारण ही कबीर साहित्य का महत्वपूर्ण स्थान है। यह भक्ति उन्हें वैष्णवों से प्राप्त हुई। वास्तव में देखा जाए तो कबीर की वैष्णवों पर विशेष आस्था

ही दिखाई देती है। वैष्णवों को वे अपने 'राम' की ही भाँति अपना संगी बतलाते हैं—

> मेरे संगी दोइ जणां, एक वैष्णों एक रांम।
> वो है दाता मुकति का, वो सुमिरावै नांम॥

नाम की महत्ता एवं निरंतर स्मरण, भगवान पर अनन्य निष्ठा एवं सदाचार की भावना, ज्ञान से अधिक भक्ति की महत्ता आदि तत्त्व ऐसे हैं जो कबीर पर वैष्णव प्रभाव सिद्ध करते हैं।

सारांश यह कि कबीर पर अपने समय में प्रचलित सभी साधना-पद्धतियों, विचारधाराओं का प्रभाव अवश्य पड़ा था। इसी की ओर लक्ष्य करते हुए पं. परशुराम चतुर्वेदी जी ने कहा है—"वास्तव में हमें कबीर साहब के सहज धर्म वा साधारण धर्म अंतर्गत उपर्युक्त जन्मांतर और कर्मवाद तथा भक्तिवाद के अतिरिक्त नाथ पंथियों के योगवाद, जैनियों के अहिंसावाद, सहजयानियों के सहजवाद वा मुसलमानों के एकेश्वरवाद तथा सूफियों के रहस्यवाद आदि अनेक मतों के प्रभाव स्पष्ट रूप में लक्षित होते हैं।"[1] हम ने जान-बूझकर सूफियों के प्रभाव का उल्लेख नहीं किया है। कबीर पर सूफियों की 'प्रेम की पीर' का आभास अवश्य मिलता है, किन्तु हमारी धारणा में कबीर साहित्य में प्राप्त इस 'पीर' को सूफियों का प्रभाव मानना अनुचित है। कबीर की यह पीर शुद्ध भारतीय है, जिस प्रकार की पीर वेदों तक में पायी जा सकती है। कुछ भी हो कबीर सारग्राही संत थे, जहाँ भी कुछ उपयोगी तत्व दिखाई पड़ा, उसे ग्रहण किया। किन्तु इस ग्रहण के पीछे उनका नीर-क्षीर विवेकी बुद्धि स्पष्ट झलकती है। उन्होंने अपने लिए उपयोगी तत्व को आत्मसात किया और अनुपयोगी तत्व को त्याज्य ही समझा। इस आधार पर अगर कोई कबीर को समन्वयवादी संत कहें तो अनुचित होगा। कबीर में समन्वय बोध की अपेक्षा विवेकशीलता अधिक दिखाई देती है। समन्वय भावना के पीछे जो उदारता वर्तमान है वह कबीर में नहीं, जहाँ कहीं भी कुछ अनुपयोगी तत्व मिला, उसको ग्रहण करना तो दूर, कबीर ने निर्भीक होकर स्पष्ट शब्दों में उसकी भर्त्सना की, खूब निन्दा की। समन्वयवादी में कुछ लेने तथा कुछ देने की भावना रहती है। अतः दूसरों के अनुपयोगी तत्व को भी समन्वयवादी कभी-कभी लाचारी की अवस्था में ग्रहण करने को बाध्य हो जाता है। किन्तु कबीर जैसे विवेकी सन्त इतनी उदारता कभी नहीं दिखा सकते थे।

---

१. कबीर साहित्य की परख, पृ. ५१-५२

कबीर का सुधारवादी दृष्टिकोण

हिन्दी साहित्य में सन्त कबीर का स्थान एक सुधारक के रूप में अक्षुण्ण है। कबीर का आविर्भाव उस समय हुआ था जब कि राजनीति दूषित थी, धर्म रूढ़ियों से आक्रान्त था और सामाजिक संगठन शिथिल तथा अस्तव्यस्त था। इसलिए स्वाभाविक रूप से कबीर जैसे युगपुरुष का ध्यान समाज को सुधारने तथा उसे सच्चे मार्ग पर ले जाने की ओर गया। वे एक मेधावी एवं प्रचण्ड व्यक्तित्व के संत थे। निर्भीकता तथा साहस कबीर के व्यक्तित्व का अत्यन्त प्रबल पक्ष है। वे एक क्षमतापूर्ण उपदेशक थे और जहाँ कहीं भी कुछ बुराई दिखाई दी, उन्होंने उसकी भर्त्सना की और सुधार का मार्ग बता दिया।

कबीर वास्तविक अर्थ में कवि नहीं थे, कविता करना उनका उद्देश्य नहीं था, वे समाज को उपदेश देकर सुधारना चाहते थे और इस के लिए कविता को अपना साधन बनाया। इसलिए संभव है कि उनकी कविता में काव्यत्व का अभाव हो, किन्तु जिस बात को वे समझाना चाहते थे, उसे प्रभावकारी ढंग से प्रस्तुत करने की कला से वे परिचित थे। वे समाज के निष्पक्ष पारखी थे। इस कारण बाह्याडंबर में भ्रमित न हिन्दू उनसे बच पाये न मुसलमान; न वे वैष्णवों को प्रसन्न कर सके न शाक्त को; न उनकी दृष्टि से नाथपंथी बच सके न तांत्रिक। उन्होंने बिना किसी भेदभाव के सभी धर्मों, संप्रदायों के लोगों की बुराइयों का पर्दाफाश किया। तभी तो डॉ० रामखेलावन पांडेय का कथन है—"कबीर सुधारक थे, किन्तु किसी धर्म को सुधारना न तो उनका लक्ष्य था, और न उद्देश्य। वे तो मनुष्य मात्र को सुधारना चाहते थे, चाहे वह हिन्दू हो, चाहे मुसलमान, योगी और पंडित हो अथवा काजी एवं मुल्ला।"[1]

कबीर ने देखा कि हिन्दू तथा मुसलमान गलत रास्ते का अंधानुकरण कर रहे हैं। दोनों धर्मांध हैं। राम एवं खुदा के नाम पर दोनों परस्पर लड़ते-झगड़ते हैं, किन्तु दोनों ने उन नामों के पीछे जो भाव है, उसे नहीं समझा। अतः दोनों अंधविश्वास से पीडित हो परस्पर एक-दूसरे का शत्रु बन बैठे हैं।

१. मध्यकालीन संत साहित्य, पृ. ६४.

दोनों गलत रास्ते पर जा रहे हैं। अतः निर्भीक वाणी में दोनों को डाँट फटकार सुनाते हुए कबीर ने बताया "अरे इन दोउन राह न पाये' तथा 'साँच कहै तो मारन धावै, झूठे जग पतियाना।" उन्होंने दोनों धर्मों में प्रचलित अंधविश्वासों, अनाचारों, अत्याचारों, पाखंडों का उन्मूलन करना चाहा तथा दोनों को समझाया—

हिन्दू तुरक की एक राह है सतगुरु इहै बताई।
कहै कबीर सुनो हो संतो राम न कहेउ खुदाई॥

कबीर आचरण की शुद्धता तथा मनःशुद्धि के कांक्षी थे। आत्मसंयम एवं अंतःकरण की शुद्धता के बिना केवल बाह्याचरणों पर ध्यान देते ढोंगी साधुओं तथा मुल्लाओं की उन्होंने धज्जियाँ उडायी हैं और अत्यन्त दृढ़ता के साथ बताया है कि इन बाह्याडंबरों से कुछ लाभ नहीं है, बाह्याडंबर छल, कपट एवं भ्रम मात्र है।

कबीर आत्मज्ञान के उपासक थे। वे किताबी ज्ञान के विरोधी थे। कबीर के समय धार्मिक नेता लोग धार्मिक ग्रंथों का हवाला देकर लोगों को ठगा देते थे और अपना स्वार्थ सिद्ध करते थे। कबीरदास ने वेद और कुरान के अंधपाठ में अविश्वास प्रकट किया—

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोइ।
ऐकै अषिर पीव का, पढ़ै सो पंडित होइ॥

इससे स्पष्ट है, कबीर के मन में धार्मिक ग्रंथों के प्रति अंध श्रद्धा नहीं है, किन्तु इसका यह कदापि तात्पर्य नहीं है कि वे उनके अन्दर निक्षिप्त गूढ़ भाव को नहीं मानते थे। वे उनके अन्दर निहित भाव, सत्य के विरोधी नहीं थे। उनके अनुसार सच्चा व्रत और रोजा मन की पवित्रता है। इस मन की पवित्रता पर ध्यान दिये बिना राम नाम जपने या नमाज़ पढ़ने से कोई लाभ नहीं है।

कबीर मूर्ति पूजा, तीर्थाटन एवं तीर्थस्नान की कटु निन्दा करते हैं। ये सब अज्ञान की उपज हैं। कबीर पत्थर की मूर्ति को भगवान समझने की भूल नहीं कर सकते। अतः मूर्ति-पूजा पर तीखा व्यंग्य करते हुए उनका कथन है—

पाहन पूजैं हरि मिलै तो मैं पूजूं पहार।
तातैं यह चक्की भली, पीस खाय संसार॥

यही बात तीर्थाटन या तीर्थस्नान के संबंध में भी कबीर कहते हैं। जब तक

मन में सच्ची भक्ति नहीं है तब तक मथुरा या काशी जाने मात्र से कुछ विशेष लाभ नहीं है, सच्ची भगवद् भक्ति के अभाव में यह सब निरर्थक है। इसलिए उन्होंने स्पष्ट स्वरों में घोषित किया—

> मथुरा जावै द्वारका, भावै जावै जगन्नाथ।
> साध संगति हरि भगति बिनु, कछू न आवै हाथ॥

कबीर अंतःशुद्धि एवं आत्मिक पवित्रता के प्रशंसक थे। वे बाह्यसाधना को महत्व नहीं देते थे। इसी कारण से उन्होंने यहाँ तक कहा कि सिर का मुंडन करने या काषाय वस्त्र पहनने मात्र से कोई सच्चा वैरागी नहीं बन सकता। "बार-बार के मूंड़ते भेड़ न वैकुंठ जाय" में कितना तीव्र व्यंग्य छिपा है और कितनी बड़ी सत्योक्ति भी। हाथ में माला घुमाते-घुमाते राम नाम की रट लगाने वाले संन्यासी पर व्यंग्य करते हुए कबीर ने ठीक ही कहा—

> माला फेरत जुग भया, फिरा न मन का फेर।
> कर का मनका डारि दे मन का मनका फेर॥

कबीर का परब्रह्म घटघटवासी है, उसकी खोज में इधर-उधर पुण्य स्थानों, पुण्यतीर्थों में जाना मूर्खता है। उस परब्रह्म को अपने हृदयतत्व में खोजना चाहिए। इस बात को समझे बिना हृदयस्थ भगवान को बाह्य संसार में खोजते भटकते साधुओं की तुलना कस्तूरी की खोज में वन-वन सूँघते भटकते कस्तूरी मृग से करते हुए कबीर ने कहा है—

> तेरा साई तुज्झ में, ज्यों पुहुपन में बास।
> कस्तूरी का मिरग ज्यों, फिर फिर ढूँढ़ै घास॥

मनुष्य भ्रमवश या अज्ञान के कारण अपने शरीर के भीतर निवास करते ब्रह्म को पहचान नहीं पाते। अतः आवश्यकता इस बात की है कि मनुष्य अपने हृदय में उसका अन्वेषण करें।

कबीर के मन में वैष्णवों के प्रति सद्भावना अवश्य थी, यह इस बात से स्पष्ट है कि उन्होंने वैष्णवों के नामस्मरण, अनन्य निष्ठा एवं भाव भक्ति को अपनी भक्ति-पद्धति का आधार बनाया है। यहाँ तक कि उन्होंने वैष्णव को अपना संगी तक बताया है। लेकिन फिर भी वैष्णवों में जो बुराई है, उसकी निन्दा करने से वे नहीं चूकते। उनका वैष्णव वह व्यक्ति है जो सच्चा विवेकी एवं राम का सेवक है। इस विवेक एवं भक्ति को छोड़कर जो मात्र छापा तिलक

लगाकर घूमता है, उसकी कटु निन्दा करते हुए कबीर की वाणी मुखरित हुई है—

> वैष्णव भया तो का भया बूझा नहि विवेक।
> छापा तिलक बनाय कर, दग्धा लोक अनेक ॥

वैसे ही सिंहल द्वीप को सिद्धिपीठ मानकर सिद्धि की खोज में जानेवाले नाथ योगियों पर व्यंग्य कसा गया है—

> कबीर खोजी रांम का, गया जु सिंहल दीप।
> रांम तो घटि भीतरि रह्या, जु आवै परतीत ॥

कबीर के समय समाज में ब्राह्मणों तथा शूद्रों के बीच गहरी खाई खुदी हुई थी और ब्राह्मण अपने उच्च कुलोत्पन्न होने का व्यर्थ गर्व अनुभव करते थे तथा शूद्रों को उत्पीडित करते थे। कबीरदास से यह सामाजिक अत्याचार सहा नहीं गया। इसलिए उन्होंने स्पष्ट शब्दों में यह घोषित किया कि गर्भवास के समय न कुल का चिह्न है न जाति का। एक ब्रह्मबिन्दु से सब की उत्पत्ति होती है, अतः ब्राह्मण और शूद्र में जातिगत कोई अन्तर नहीं है। आश्चर्य इस बात का है कि जन्म होते ही ऊँचा-नीचा भेद भाव आ जाता है। कबीर का ब्राह्मणों के प्रति कथन है कि अगर वह उच्च कुल जात ब्राह्मण है तो उसे दूसरे किसी ढंग से जन्म लेना था—

> नहीं को ऊंचा नहीं को नीचा, जाका प्यंड ताही का सींचा।
> जे तूँ बांमन बभनीं जाया, तो आंन बाट ह्वै काहे न आया ॥
> जे तूँ तुरक तुरकनीं जाया, तौ भीतरि खतनां क्यूँ न कराया।
> कहै कबीर मधिम नहीं कोई, सो मधिम जा मुखि रांम न होई ॥

भक्ति के क्षेत्र में जाति-पाँति के लिए कोई स्थान नहीं है, जो कोई भी भगवान का भजन करता है वह भगवान का भक्त बनता है। "जाति-पाँति पूछे नहि कोइ हरि को भजै सो हरि का होय" की उद्घोषणा करते हुए कबीर ने अपना सामान्य भक्ति मार्ग सब के लिए खोल दिया।

कबीर ने यह कभी नहीं कहा कि वैराग्य लेने पर ही ईश्वर प्राप्ति संभव है। कबीर की यहाँ तक मान्यता है कि वैराग्य साधना अपनाकर भी जो विषयासक्त है वह किसी भी अवस्था में श्रेष्ठ नहीं हो सकता। उसकी अपेक्षा वह गृहस्थ श्रेष्ठ है जो अपने गृहस्थाश्रम का निष्ठापूर्ण पालन करता है। इस लिए उन्होंने स्पष्ट बतला दिया कि गृहस्थाश्रम में रहता है तो धर्म का

पालन करो, नहीं तो वैराग्य धारण करो। वैराग्य लेकर गृहस्थाश्रम के बंधन में पड़ने वाला महाअभागा है—

ग्रिही तो च्यंता घणी, बैरागी तो भीख।
दूहूँ कात्या विचि जीव है दौ हनै संतो सीष ॥

गृहस्थ को घर की तथा संन्यासी को भीख की चिन्ता सताती है।

कबीर ने अहंता, गर्व आदि की निन्दा करके पवित्र आचरण को महत्व दिया। अहंता महापापी है, जो मनुष्य का सत्यानाश करती है। भक्ति के क्षेत्र में नम्रता एवं सहिष्णुता सर्वश्रेष्ठ गुण हैं। कबीर ने वाणी संयम, ब्रह्मचर्य एवं अहिंसा को प्रश्रय दिया और इन्हें भगवद् भक्ति की साधना के लिए अपरिहार्य स्वीकार किया। उनकी दृष्टि में हिंसा सबसे बड़ा अधर्म है, पाप है। अपने अहिंसावाद को महत्व देते हुए कबीर ने बतलाया—

बकरी पाती खात है, ताकी काढ़ी खाल।
जे नर बकरी खात हैं, तिन का कवन हवाल ॥

भक्ति के क्षेत्र में अहंता बाधक है क्योंकि प्रभु निरहंकारी हैं। अतः अहंकारी व्यक्ति उन्हें कैसे प्राप्त कर सकते हैं। समाज में प्रचलित वेश्यावृत्ति पर भी उन्होंने व्यंग्य किया है। कबीर को कुछ लोग नारी विरोधी समझते हैं, किन्तु यह धारणा ठीक नहीं है। उन्होंने नर-नारी के पति-पत्नी संबंध की कभी निन्दा नहीं की, अपितु वे स्वयं परमात्मा के साथ दूल्हा-दुलहिन या बालक-जननी संबंध स्थापित करते हैं। अतः भारतीय संस्कृति के अभिन्न अंग नारी के दुलहिन तथा मातृत्व रूप के गौरव के वे प्रशंसक हैं; हाँ पर-नारी पर आसक्त पुरुष तथा कामांध नारी उनकी दृष्टि में सम्मान पाने के अधिकारी कदापि नहीं। उन्होंने तीव्र शब्दों में पर-नारी संयोग की आलोचना की है—

परनारी राता फिरैं, चोरी बिढ़ता खांहि।
दिवस चारि सरसा रहै अंति समूला जांहि ॥

वास्तव में कबीरदास धार्मिक ढोंग एवं बाह्याडंबर के विरोधी थे और सामाजिक जीवन में नैतिकता के प्रबल समर्थक थे। सामाजिकता के रूढ़िवादी विश्वास के कारण जो विकृतियाँ आ गयी थीं, उनके निराकरण के द्वारा नवीन स्वरूप निर्माण का कबीर ने विधान किया था। उनकी वाणी में लोकमंगल की भावना निहित है। कबीर का यह लोकमंगल की भावना लोकप्रेम का समानार्थक है। उनमें जीव मात्र के प्रति सहानुभूति है। इसलिए उन्होंने

अपनी वाणी में समाज के लिए नवीन प्रेरणा एवं नयी स्फूर्ति प्रदान की और चाहा कि एक भव्य एवं आदर्श समाज का संगठन हो। वे मनुष्य की क्षुद्रता एवं अहंता को दूर करके उसको ऊपर उठाने के लिए प्रयत्नशील थे। वे मनुष्य के अन्तःकरण को संकीर्ण क्षुद्रता से ऊपर उठाकर व्यापक एवं विशाल रूप में परिवर्तित करना चाहते थे। इस के लिए जनता में आत्मविश्वास जगाने की आवश्यकता थी। अतः संत-कवियों के संबंध में डॉ० रामखेलावन पांडेय का यह विचार कबीर के संबंध में विशेष चरितार्थ है— "संत-कवि मन को वह सुसंस्कृत स्वरूप देने का आग्रह रखता है अथवा उसे आवृत्त करनेवाले मोहावरण को छिन्न कर उस शुद्ध रूप को देखना चाहता है जिसके द्वारा निर्लिप्त भाव से सदाचरण (पुण्यकर्म) संभव हो।"[1] वास्तव में कबीर समाज-सुधारक थे, वे समाज को उसकी अच्छाइयों के साथ देखने के अभिलाषी थे। उनका दृष्टिकोण एकतामय था। इस कारण कबीर साहित्य में नवीन शक्तिमत्ता है। इसमें प्रवृत्ति का उल्लास और निवृत्ति का सन्तोष है।

---

१. मध्यकालीन संत-साहित्य, पृ. १७१.

कबीर की भक्ति-पद्धति

भक्ति शब्द 'सेवा' अर्थ में भज् धातु से क्तिन् प्रत्यय लगकर बना है। कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने 'भज्' का अर्थ भाग लेना मानकर भक्ति को उपास्य भगवान के ऐश्वर्य या मूल तत्व में सम्मिलित होने की प्रवृत्ति माना है किन्तु भक्ति का यह अर्थ भ्रामक है और भक्ति वास्तव में प्रत्यक्ष नामरूपात्मक उपासना ही है। भगवत्-प्राप्ति के नाना साधनों में भक्ति अधिक सरल और सुगम है और उसे ईश्वर-साक्षात्कार का सर्वोत्तम साधन माना गया है। भगवान को भक्त ही सब से प्रिय होता है। गीता में भगवान कृष्ण का कथन है 'मय्यर्पित मनो बुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः' (जिसने अपने मन तथा बुद्धि को मुझे अर्पित किया, वह भक्त मुझे प्रिय है।) भक्ति हृदय की रागात्मिका-वृत्ति है जिसमें अपने उपास्य भगवान की महत्ता की स्वीकृति एवं उसके सामीप्य लाभ की उत्कट अभिलाषा है।

नारदीय भक्तिसूत्र में भक्ति को अन्य सभी साधनों से श्रेष्ठ बताकर "सात्वस्मिन् परमप्रेमरूपा' सिद्धकर के ईश्वर की परम प्रम-प्राप्ति को भक्ति की संज्ञा दी गयी है। पराशरमुनि के अनुसार 'पूजादिष्वनुरागः' अर्थात् विधि-विहित कर्मों से युक्त अनुराग ही भक्ति है। शांडिल्य भक्ति सूत्र में भी ईश्वर के प्रति अनुराग को भक्ति माना गया है 'सा परानुरक्तिरीश्वरे।' नारद के अनुसार भक्ति में ईश्वर के माहात्म्यबोध आवश्यक है। भक्तप्रवर प्रह्लाद ने भक्ति की सुन्दर व्याख्या की है—"या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनुपायिनी। त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु।" प्रह्लाद ने भगवान से प्रार्थना की है कि जिस प्रकार अविवेकी को इन्द्रिय-विषय में आसक्ति होती है उसी प्रकार की आसक्ति आप के स्मरण के समय मेरे हृदय में भी हो। 'गोपाल पूर्व तापनी' उपनिषद् के अनुसार निष्काम भाव से मन को भगवान पर केन्द्रित करके भजन करना भक्ति है। वल्लभाचार्य के अनुसार यही मुक्ति का सहज साधन है। हिन्दी के आलोचकप्रवर आचार्य शुक्ल ने श्रद्धा और प्रेम के सहयोग को भक्ति संज्ञा दी है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में 'भक्ति भगवान के प्रति अनन्यगामी एकान्त प्रेम का ही नाम है।" सारांश यह कि भक्ति इष्टदेव के प्रति अनुराग-

मयी भावना है जिससे प्रेरित हो भक्त विविध साधनों को अपनाकर उसके सान्निध्यलाभ के लिए प्रयत्नशील होता है।

भक्ति के उद्‌गम के संबंध में विविध मत प्रचलित हैं। पाश्चात्य विद्वान कीथ, वेवर, ग्रियर्सन आदि ने भारतीय भक्ति को ईसाई देन सिद्ध करने का व्यर्थ प्रयत्न किया है। इससे एक कदम आगे बढ़कर उन लोगों ने कृष्ण को ईसा का विकृत रूप सिद्ध करने का दुस्साहस किया है। किन्तु भारतीय विद्वानों ने उनकी धज्जियाँ उड़ायी हैं और यह प्रमाणित किया है कि ईसाई धर्म की भक्ति भारतीय देन है। आदित्यनाथ झा ने बहुत ही सुन्दर ढंग से भारतीय भक्ति का विवेचन करते हुए बताया है—"भारतीय भक्ति की स्रोतस्विनी यहाँ के लोक मानस को अनन्तकाल से आविकल करती हुई, भक्तों के कंठों से आर्द्र वाक्य के रूप में संस्कृत, पाली, अपभ्रंश और हिन्दी वाङ्‌मय सभी में प्रस्फुटित हुई है।"

भागवत में भक्ति के उद्‌भव एवं विकास पर प्रकाश डाला गया है, जिसके अनुसार भक्ति का उद्‌भव द्रविड प्रदेश में हुआ था—

> उत्पन्ना द्रविडे चाहं वृद्धिं कर्णाटके गता।
> स्थिता किंचिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतां गता।

यह माना जाता है कि दक्षिण के आलवार संतों में प्रचलित भक्ति का प्रचार उत्तर में करने का श्रेय रामानंद प्रभृति आचार्यों को प्राप्त है। डॉ० सत्येन्द्र ने ठीक ही कहा है "भक्ति द्राविड उपजी, लाये रामानंद"। भक्ति मार्ग का प्रमुख स्रोत भागवत धर्म है, जिसका उदय ईसा पूर्व १४०० में माना जाता है। वैदिक भक्ति श्रद्धा-उपासना परक थी। उपनिषद् काल में निर्गुणीय भक्ति तथा ज्ञान-मार्ग का प्राधान्य था। निर्गुण भक्ति जब सामान्य जनता के लिए अग्राह्य सी जान पड़ी तो उसमें परिवर्तन की आवश्यकता आ पड़ी और सगुणोपासना को बढ़ावा प्राप्त हुआ। एक समय ऐसा भी आया कि प्रत्यक्ष नामरूपात्मक उपासना ही भक्ति कहलायी। श्रीकृष्ण द्वारा प्रवर्तित भागवत धर्म समयानुकूल जान पड़ा और लोग उत्तरोत्तर उसकी ओर आकृष्ट हुए और फलतः वासुदेव भक्ति या वैष्णव भक्ति-गंगा अजस्र प्रवाहित हो उठी। भागवत धर्म के ग्रंथ गीता में भक्ति का पल्लवित रूप देखने को मिलता है। यहाँ आकर भक्ति सब के लिए सुलभ कर दी गयी। किन्तु आठवीं शती में शंकर द्वारा प्रवर्तित अद्वैतमत ने भारतीय भक्ति मार्ग को धक्का पहुँचाया, जिसके प्रहार से उसे पुनर्जीवित करने का श्रेय दक्षिण के वैष्णव आचार्यों को प्राप्त हुआ।

भक्ति का विभाजन कई प्रकार से किया जाता है। भक्तों के भेद से भक्ति चार प्रकार की मानी गयी है—दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य।

साधन की दृष्टि से इसके वैधी और रागानुगा दो भेद हैं। भागवत में भक्ति के तीन रूप बताये गये हैं—विशुद्धा भक्ति, नवधा भक्ति और प्रेमा भक्ति। विशुद्धा भक्ति में अंतःकरण की शुद्धि को महत्व दिया जाता है। नवधा भक्ति जिसे वैधी भी कहा जाता है, साधन रूपा मानी जाती है। प्रेमा भक्ति या रागानुगा भक्ति को साध्य रूप माना गया है। वैधी में शास्त्र विहित मार्ग का अनुसरण किया जाता है। रागानुगा में अनुराग की प्रधानता है। इसे गोपी भाव की भक्ति बतलाकर सर्वश्रेष्ठ सिद्ध किया गया है।

उपर्युक्त दृष्टि से कबीर की भक्ति प्रेमा भक्ति या रागानुगा भक्ति कही जा सकती है। कबीर के अनुसार ईश्वर योग एवं भक्ति से प्राप्त हो सकता है, किन्तु भगवत्—प्राप्ति में भक्ति महत्तर है। कबीर ने अपने इष्टदेव के लिए अपने को ही समर्पित कर लिया है क्योंकि भक्ति उनके लिए अंतःप्रेरणा है। इसके लिए सत्य और सत्य स्वरूप का परिचय आवश्यक है। यह तभी संभव है जबकि विवेक जगता है। विवेक के बिना भाव भगति असंभव है। इस भाव भगति के बिना जप, तप, सयम, व्रत सब व्यर्थ हैं। कबीर की भक्ति में अखण्ड, सपूर्ण एवं अपरिमेय सत्य जो स्वयं प्रकाश एवं अनन्त ज्योति है, उसकी कामना की गयी है। कबीर की भक्ति में सांप्रदायिक संकीर्णताओं को महत्व नहीं मिला है। उसका दृष्टिकोण सत्य स्वरूप को पहचानना है। इससे बूँद समुद्र में और समुद्र बूँद में समा जाता है। कबीर की भक्ति का एकमात्र लक्ष्य यही है और इससे भिन्न कोई कामना उसमें नहीं है क्योंकि कबीर की भक्ति निष्काम भक्ति है। कबीर जानते थे कि भक्ति कामना युक्त होने पर दूषित होती है।

कबीर की भक्ति पर विचार करते समय पहले उनके राम पर विचार किया जाना चाहिए। कबीर ने अपने उपास्य भगवान को राम नाम से अभिहित किया। किन्तु यह राम दाशरथी राम न होकर निर्गुण, अलौकिक तत्व है। राम को दशरथ पुत्र घोषित करने वालों के विरोध में कबीर का कथन है—"दशरथ सुत तिहूँ लोक बखाना, राम नाम का मरम है आना।" तथा 'जन्म मरन ते रहित है, मेरा साहब सोय।' कहकर कबीर ने उस अलौकिक शक्ति की ओर संकेत किया है। उस ईश्वर की खोज में तीर्थ स्थानों में या पुण्यतीर्थों में भटकना व्यर्थ है। वह 'पुहुपन में बास' तथा 'तिल में तेल' के समान जीव के घट में समाया हुआ है। किन्तु संसार के लोग चार भुजा वाले भगवान के भजन में भ्रमित हैं। कबीर का उपास्य भगवान अनंत भुजाओं वाला अनंत ब्रह्म है, जिसे देख पाने के लिए अनंत नेत्रों की आवश्यकता है। वह इतना सर्वशक्तिमान है कि इच्छा होने पर 'राई ते परवत करै' तथा 'परवत राइ मांहि' समा देता है और उसका प्रसाद पाने पर 'बाल न बाँका करि सकै, जो जग बैरि होय।' पर अज्ञान या भ्रमवश जीव को ईश्वर दिखाई नहीं देता।

जा कारन जग ढूँढिया, सो तो घट ही मांहि।
परदा दिया भरम का, तातै सूझै नांहि ।।

इस ईश्वर का नाम लेने पर सभी सांसारिक व्याधियाँ दूर हो जाती हैं और अभ्यंतर शुद्ध हो जाता है—"रचक घट में संचरै सब तन कंचन होय।"

कबीर का ईश्वर निर्गुण सगुण के परे निर्विकार, अरूप अनंत है। वह भक्त के लिए राजा, पति, स्वामी, पिता, माता सब कुछ है। कबीर ने उसे साई, गुसाई, राम, कृपालु, भगत बछल, भौहारी आदि कई नाम दिये हैं और सब के साथ अपना रागात्मक संबंध जोड़ा है।

कबीर की भक्ति में सगुण ब्रह्म का भी आभास मिलता है। इसे वैष्णवी प्रभाव माना जा सकता है। कबीर ने भक्ति के प्रसंग में उद्धव, प्रह्लाद, ध्रुव, अंवरीष आदि के नाम अवश्य लिये हैं। उनकी भावभगति भी वैष्णव देन है। अतः इस प्रभाव से वे असंपृक्त नहीं रह सके। इस कारण वे अपने को दुलहन तथा प्रिय को दूल्हा मानकर अपना दांपत्य संबंध स्थापित करते हैं। ऐसे स्थानों में निर्गुण ब्रह्म में सगुण ब्रह्म के गुणों का आरोप अवश्य हुआ। और ऐसे आरोप पर ही निर्गुण ब्रह्म भक्ति का आलंबन बन सकता है।

कबीर की भक्ति में गुरु का माहात्म्य स्वीकृत हुआ है क्योंकि सद्गुरु ही अनंत ब्रह्म को देखने योग्य अनंत लोचन खोल देते हैं। वे ज्ञानोपदेश का बाण चलाकर शिष्य की अहंता को नष्ट कर देते हैं और उसके हृदय में ब्रह्म की प्राप्ति के लिए प्रेम की लौ जला देते हैं। उस लौ के जल उठने पर शिष्य गूँगा, पागल, कानो से बहरा और पैरों से लंगडा हो जाता है। वह संसार से विरत हो आध्यात्मिक मार्ग का साधक बन जाता है और ब्रह्म को छोड़ कर और किसी वस्तु की ओर उसके मन का लगाव नहीं होता।

कबीर की भक्ति में भगवान के नाम स्मरण, साधु-संगति आदि का बड़ा महत्व है। ईश्वर का नाम सब प्रकार की व्याधियों के लिए दिव्यौषध है। इस नाम स्मरण से मन राममय हो जाता है—

मेरा मन सुमिरै रांम कूँ, मेरा मन रामहि आहि।
अब मन रांमहि ह्वै रह्या, सीस नवावौं काहि ।।

इस राम नाम के सामने कबीर संपूर्ण सांसारिक वैभवों, भोगों, विलासों को त्यागने के लिए तैयार हैं। इसके सामने इद्रासन एवं वैकुंठ भी गौण है—

नाम बिना बेकाम है, छप्पन कोटि विलास।
का इन्द्रासन बैठिबे, का बैकुंठ निवास।।

वैसे ही कबीर ने साधु-संगति का गुणगान किया है। भक्ति साधु-संगति से प्राप्त होती है। उन्होंने स्पष्ट बताया कि चाहे कोई द्वारिका, काशी या मथुरा की तीर्थ यात्रा करे, किन्तु "साध संगति हरि भगति बिन, कछु न आवै हाथ।"

कबीर साधना के लिए आन्तरिक मार्ग का निरूपण करते रहे और कर्मकाण्ड की निन्दा की। वे कहते थे, कि जो भक्ति हृदय से की जाती है उसी में दृढ़ता होती है और वही सच्ची भक्ति कहलाती है। कबीर ने इसी हृदय की भक्ति को अन्तःसाधना कहा है। इस अंतःसाधना के लिए उन्होंने बराबर यही कहा है कि वाह्याडंबर छोड़ दो, मन को संयमी बनाओ, 'कर का मन का डार के मन का मनका फेर।' उन्होंने जीवन को 'युक्ताहार विहार' वाला बनाकर उचित ढंग से बिताने का उपदेश दिया। उनके अनुसार वे साधु लोग कभी भक्त नहीं हो सकते जो वैरागी होकर भी सांसारिकता में विलीन रहते हैं, किन्तु वे सांसारिक जीव ही भक्त हैं जो अपना कार्य करते हुए हृदय से ईश्वर की उपासना करते हैं।

भक्ति के क्षेत्र में कबीर ने सूर, सती, चकोर और मीन का आदर्श बताया है। भक्ति का मार्ग बड़ा दुर्गम है, हर कोई इस पंथ का अनुसरण नहीं कर सकता। इस पंथ पर चलते हुए अनेक कठिनाइयाँ सहनी पड़ती हैं। जो 'सीस उतारै भुइ धरै' वही इस मार्ग का पथिक बन सकता है। अतः सूरमा बनकर ईश्वर के प्रेमपंथ पर चलने, पीछे न हटने तथा सब यातनाएँ सहने का अभ्यास आवश्यक है। सती में एकनिष्ठता एवं कर्तव्य भावना निहित है। जिस प्रकार सती पतिव्रता अपने प्रियतम के अतिरिक्त और किसी का ध्यान लेना तो दूर, मुड़कर भी नहीं देखती, उसी प्रकार भक्ति के क्षेत्र में अनन्यता एवं एकनिष्ठता अनिवार्य गुण हैं। तभी तो कबीर ने कहा है—

संत सती और सूरमा, इन पटतर कोउ नांहि।
अगम पंथ को पग धरै, डिगै तो कहां समांहि।।

चकोर की विशेषता यह है कि वह चन्द्रमा से दूर रहकर भी अपनी भावात्मक एकता बनाये रखता है। वह सदा चन्द्रमा का दर्शनाभिलाषी है और उसे सब कहीं चन्द्रमा का ही दर्शन होता है। यही बात मीन के संबंध में भी है। जल से अलग होकर मछली का निर्वाह नहीं, वह तड़प तड़प कर अपना प्राण छोड़ देती है। अतः भक्त में चन्द्रमा और मीन का आदर्श अनुपेक्षणीय है।

ईश्वर-भक्ति की प्राप्ति के लिए निष्कामता, अनन्यता एवं विरहासक्ति अत्यन्त आवश्यक है। प्रभु कामना रहित है और ऐसे प्रभु को कामना लेकर प्राप्त नहीं किया जा सकता। गीता में भी इसी अनासक्त कर्मयोग का वर्णन है। कामना लेकर की जाने वाली भक्ति पूर्ण एवं सफल नहीं हो सकती—

जब लग भगति सकामता, तब लग निर्फल सेव।
कहै कबीर क्यूँ मिलै, निहकामी निज देव॥

हृदय में प्रेम का प्रकाश होते ही सारे संशय मिट जाते हैं, सारी कामनाएँ विलीन हो जाती हैं और मन शुद्ध एवं पवित्र हो जाता है। "बरस्या बादल प्रेम का भीजि गया सब अंग।"

भक्ति के क्षेत्र में विरहासक्ति अनिवार्य शर्त है क्योंकि प्रेम का निखरा रूप इसी विरह में अभिव्यक्त होता है। विरह में प्रेमी-प्रेमिका दो तन एक प्राण होते हैं। दूर होते हुए भी दोनों के भाव एक होते हैं, दोनों का भावात्मक मिलन सदा बना रहता है। इसी विरह में एकात्मकता, एकनिष्ठता एवं अनन्यता बनी रहती है। कबीर ने विरह का बड़ा सजीव वर्णन किया है। उन्होंने अपने को 'राम की बहुरिया' सिद्ध किया है और उनकी आत्मा प्रियतम से बिछुड़कर सदैव उसी का पथ निहारती रहती है, रास्ते से आते-जाते पथिक के पास भाग आकर पूछती है कि प्रियतम कब आने वाले हैं? उसे अहर्निश केवल उसी का स्मरण उसी का ध्यान है। प्रियतम का नाम रटते रटते उसकी जिह्वा के छाले पड़ जाते हैं, विरह की चोट खायी विरहिणी स्वयं-जलकर भस्म होना चाहती है। उसकी कारुणिक दशा है—

बासुरि सुख नाँ रैंणि सुख, नाँ सुख सुपिनै माँहि।
कबीर बिछुट्या रांम सूँ, नाँ सुख धूप न छाँह॥

कबीर की भक्ति में सहज साधना का विशिष्ट स्थान है। आचार्य क्षितिमोहन सेन के अनुसार इस सहजवाद का मूल रूप उपनिषदों के ब्रह्म संबंधी 'नेति नेति' में है। बौद्ध सहजयानी और वज्रयानी सिद्धों में सहज की अधिक महत्ता है। कबीर जप, तप, योग, यज्ञ आदि को अकृत्रिम रूप में देखना चाहते हैं। भगवान के प्रति सहज लगाव, सहज आत्मानुभूति और सहज ज्ञान अपेक्षित है। यही कारण है प्राणायाम आदि हठयोग साधना को सहज न देखकर कबीर ने उसकी निन्दा की है। कबीर के अनुसार सात्विक सत्तावस्था ही मन की सहज स्वाभाविक अवस्था है। उससे सहज स्वरूप की प्राप्ति होती है। इस सहज मार्ग के लिए शरीर को पीडित करने एवं कष्ट

देने की आवश्यकता नहीं है। वे शरीर को ही देवालय, पुण्यस्थान सब कुछ मानते हैं—

दिल के अन्दर देहरा, जा देवल में देव।
हर दम साखी भूत है, करौ तासु की सेव।

जो ब्रह्माण्ड में है वही पिंड में भी है। अत: पिंड में ब्रह्माण्ड को खोजना उचित है। सहज साधना से प्राप्त सहजावस्था अमरता की दात्री होती है। सच्चे गुरु के उपदेश से सहज ज्ञान, सहज ज्ञान से सहज समाधि और सहज समाधि से सहजानुभूति प्राप्त होती है। सहजानुभूति सहजानंद प्रदान करती है।

इसी प्रसंग में अजपाजाप का भी उल्लेख आवश्यक है। इसका तात्पर्य यह है कि साधक को निरंतर अभ्यास के द्वारा अपनी साधना में इतनी उन्नति करनी चाहिए कि उसे भगवान का नाम लेने की भी आवश्यकता न रहे और बिना नाम लिये हुए ही रोम रोम में वही ईश्वर रमा हुआ प्रतीत होने लगे। यह अजपाजाप 'सोऽहम्' का बोधक है। तभी तो कबीर ने कई बार कहा है कि मुझे ईश्वर का नाम लेने की आवश्यकता नहीं है तथा चिट्ठी वह लिखा करता है जिसका प्रियतम विदेश में हो। जो मेरे हृदय में समाया हुआ है, जो सदा मेरे पास है, उसको क्या सन्देश भेजना है ?

संत कबीर ने आडंबर विहीन भक्तिमार्ग को महत्व दिया जिसमें अन्त: साधना को बल मिला। कबीर की यह भक्तिमूला भक्ति का द्वार सब के लिए उन्मुक्त है। वहाँ ऊँच-नीच के भेद भाव को प्रश्रय नहीं मिल सका। उनकी दृष्टि में 'जाति-पाँति पूछे नहीं कोय, हरि को भजै सो हरि का होय' का भव्य आदर्श रहा। इस प्रकार कबीर की भक्ति में विभिन्न संप्रदाय एवं धर्मावलंबी लोग दीक्षित हो उठे। डा. सरनामसिंह की मान्यता है कि कबीर के समय देश में एक ओर योग मार्ग का प्रचार था तो दूसरी ओर अनीश्वरवाद का भी प्रचार हो रहा था। इस निरीश्वर योग में आत्मा और परमात्मा के लिए स्थान नहीं था। इससे भागवत् धर्म को आघात पहुँचा, जनता में संदेह और निराशा पैदा हुई और "इसके उच्छेदन के लिए विश्वास और आशा की प्रतिष्ठा के लिए एक सामान्य भाव भूमि की आवश्यकता थी जो कबीर के ईश्वरवाद के भीतर ही दिखाई पड़ी। यह ईश्वरवाद हिन्दू और मुसलमान दोनों के लिए सामान्य था, अतएव कबीर ने जिस भक्ति की प्रतिष्ठा की, देश की सामाजिक एकता के लिए उसका बहुत बड़ा मूल्य था।"[१]

१. कबीर : एक विवेचन, पृ. ११५.

कबीर काव्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि

दर्शन शब्द 'दृश्' धातु से बना है और उसका अर्थ है जिसके द्वारा देखा जाए। यह देखने की क्रिया दो प्रकार की होती है—वाह्य चक्षु से देखना और अन्तःचक्षु से देखना। अन्तःचक्षु से प्राप्त प्राज्ञज्ञान ही भारतीय दर्शनों का मूल है। भारतीय दर्शन मूलतः अध्यात्मवादी है। उसने इस संपूर्ण ब्रह्माण्ड के परे एक अव्यक्त परमतत्व का संधान किया जो इस ब्रह्माण्ड के नियन्ता, पालक एव संहारक है। उसने उस परमतत्व तथा इस ब्रह्माण्ड के सबंध एवं स्थिति पर समय समय पर विचार किया और यह अनुभूत ज्ञान ही भारतीय दर्शन है। भारतीय दर्शन का आदिम रूप वेदों में उपलब्ध है, जिसका विकसित रूप उपनिषदों में प्रस्फुटित हुआ है। अर्थात् भारतीय दर्शन का बीजारोपण वेदों में हुआ तो उसका पल्लवित रूप उपनिषद् है और उपनिषदों में प्रतिपादित विचारों का सारतत्व गीता में उपलब्ध होता है।

कबीर मूलतः समाज सुधारक थे और इस नाते समाज में फैली गंदगियों का उच्चाटन करना उनका मुख्य लक्ष्य था। अतः किसी दार्शनिक तत्व या सिद्धान्त का प्रतिपादन करना उनका उद्देश्य नहीं रहा। फिर भी भारतीय मिट्टी में जन्म लेकर भारतीय वातावरण में पले कबीर के काव्य में भी कुछ दार्शनिक विचार स्वयं प्रकट हुए तो उसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। समय समय पर कबीर ने उपदेश के रूप में ही सही ब्रह्म, जीव, जगत, माया आदि के संबंध में अपने विचार प्रकट किये हैं, जो कबीर का दर्शन है। आगे हम कबीर के इन विचारों का अध्ययन करेंगे।

ब्रह्म : कबीर की ब्रह्म संबंधी मान्यता अद्वैतवादियों से मेल खाती है। कबीर का ब्रह्म एक और अनादि एवं अनन्त है। वह अलख निरंजन है। वह सर्वव्यापी, सर्वग्राही एवं सर्वशक्तिमान है। कोई स्थान उस ब्रह्म से शून्य नहीं, कोई ज्ञान उससे बाहर नहीं और कोई कार्य ऐसा नहीं, जो उसकी शक्ति के परे हो। वह अपरिमेय शक्ति 'राई का परवत' बना सकती है और पर्वत को राई में समेट सकती है। कबीर का ब्रह्म अव्यय, निष्क्रिय एवं शान्त है, वह ज्ञान एवं प्रकाशरूप है। वह अविगत, अविनाशी, अभंग एवं अछेद है। वह

परम ज्योतिस्वरूप है। जिस प्रकार पुष्प में सुगंधि, काष्ठ में अग्नि, तिल में तेल और मेहँदी में लाली है उसी प्रकार कबीर का ब्रह्म अदृश्य रूप में सब में व्याप्त है। वह घट में और घट उसमें है। न वह निर्गुण है न सगुण ही, वह निर्गुण सगुण के परे है। उस परमतत्व के संबंध में कुछ कहा नहीं जा सकता, वह अनिर्वचनीय है। वह जैसा है वैसा है।

कबीर का परब्रह्म अनंत है, अनंत शोभा युक्त है। उसे देखने के लिए साधक के अनन्त लोचन चाहिए। उसके असीम तेजोमय रूप का अनुमान नहीं किया जा सकता, वह देखकर अनुभव करने की वस्तु है—

पारब्रह्म के तेज का कैसा है उनमान।
कहिबे कूँ सोभा नहीं, देख्या ही परवान।

वह देश काल विहीन है, न वह बालक है, न युवा, न वृद्ध ही। वह अजर अमर है। वह बिना पैर के चल सकता है, बिना कान के सुन सकता है। वहाँ न संयोग है न वियोग, न धूप है न छाँह।

अमिलन मिलन घाम नहीं छांहा, दिवस राति नही है तांहा।

जहाँ सूर्य चंद्र तक की गति नहीं वहाँ कबीर ने आनंद मूर्ति परब्रह्म का दर्शन किया है—

जहाँ उगै सूर न चंदा, तहाँ देष्या एक अनंदा।

यह ब्रह्म अणोरणीयान्महतो महीयान् है। कबीर उसे भारी या हल्का कहने से डरते हैं क्योंकि नेत्रों ने कभी उसे नहीं देखा है। भला नेत्रों ने जिसे कभी नहीं देखा, उसे भारी या हल्का कैसे कहला सकता है। उसी ब्रह्म से पिंड और ब्रह्माण्ड की सृष्टि हुई और वह सभी में समाया हुआ है।

ए सकल ब्रह्माण्ड तैं पूरिया, अरु दूजा नहि थान जी।
मैं सब घट अंतरि पेषिया, जब देख्या नैंन समांन जी॥

आत्मा परमात्मा का ही रूप है। जैसे जल और तरंग एक ही हैं वैसे परमात्मा और आत्मा की अद्वैत स्थिति है। कबीर ने परमात्मा और आत्मा की अभिन्नता पानी और बरफ के रूपक द्वारा प्रस्तुत की है—

पाँणी ही तैं हिम भया, हिम ह्वै गया बिलाइ।
जो कुछ था सोइ भया, अब कछू कह्या न जाइ॥

इस अद्वैत ब्रह्म को कबीर ने मन वाणी के अगोचर कहा है। यह बाह्याडंबर एवं वाह्य संधान से प्राप्त नहीं हो सकता। कबीर ने बाह्याडंबर एवं बाह्याचार की व्यर्थता सिद्ध की और भक्ति को प्रश्रय दिया। यह भक्ति स्वरूप ज्ञान से होती है। ज्ञानमूलक भक्ति ब्रह्म प्राप्ति का साधन है या यों कहा जासकता है कि कबीर का ब्रह्म प्रेमसाध्य है।

जीव और जगत : कबीर ने स्पष्ट शब्दों में बतलाया है कि परमतत्व के अतिरिक्त कहीं कोई अन्य तत्व नहीं है। हरि से पिंड और पिंड में हरि है। मनुष्य शरीर के अन्दर रहती आत्मा परमात्मा का अंश मात्र है। अतः जीवात्मा और परमात्मा का संबंध बूँद और समुद्र का है। जब बूँद समुद्र में लीन हो जाती है तब उसको पृथक देखा ही नहीं जा सकता—

हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हिराइ।
बूँद समानी समद मैं, सो कत हेरी जाइ॥

शुद्ध चैतन्य रूप में जीव और ब्रह्म में ऐक्य है, किन्तु माया के कारण जीव ब्रह्म से भिन्न है। अतः कबीर ने ब्रह्म एवं जीव को अनेक रूपकों द्वारा समझाया है। उन्होंने बतलाया है कि ब्रह्म अगर पिता है तो जीव पुत्र है, वह माता है तो जीव उसका बालक है, वह अगर पति है तो जीव पत्नी है। वह स्वामी और यह सेवक है। जीव में अहन्ता है और यही अहन्ता भ्रम का कारण है। इस अहं के भ्रम के नाश से अभेदात्मक स्थिति का बोध होता है। अतः अहं ही अनेकता की सृष्टि करता है।

जीवन और जगत के संबंध में कबीर विविध दृष्टिकोण अपनाते हैं। जीवन और जगत के संबंध में कबीर ने कभी विवर्तवाद को महत्व दिया, कभी परिणामवाद को तो कभी प्रतिबिंबवाद का पल्ला पकडा है। लोग भ्रमवश जगत को सत्य मान बैठते हैं, किन्तु वास्तविकता यह है कि उसके मूल में स्थित सत्य ही वास्तविक है। उसी की सत्ता से यह सत्य प्रतिभासित होता है। परिणामवाद का सहारा लेकर कबीर ने ब्रह्म और जगत को जल-तरंग या कनक कुण्डल न्याय के द्वारा समझाया है और बताया है कि जैसे तरंग जल का या कुण्डल कनक का परिणाम है वैसे जगत ब्रह्म का ही परिणाम है—

जसैं बहु कंचन के भूषन, ये कहि गालि तवांवहिंगे।
जैसैं जलहि तरंग तरंगिनी, ऐसैं हम दिखलावहिंगे॥

वैसे ही जल और कुंभजल का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कबीर ने जगत को प्रतिबिंब बताया है।

कबीर के अनुसार शरीर आत्मा का परिधान है और यह परिधान पंचतत्व निर्मित है। त्रिगुणात्मक यह शरीर क्षणिक एवं नश्वर है, केवल आत्मा अविनाशी है। जल का बुदबुद, कच्चा घड़ा या कागद की पुडिया आदि अप्रस्तुतों के सहारे कबीर ने मनुष्य शरीर की क्षणिकता और नश्वरता पर प्रकाश डाला है।

यह तन काचा कुंभ है, चोट चहूँ दिसि खाई।
एक राम के नाँव बिन, जदि तदि प्रलै जाइ।।

जगत् जल की बूँद के समान नश्वर एवं क्षणिक है। अद्वैतवादियों के समान कबीर ने जगत् को सेंवल फूल, जल बूँद आदि कहा है। सेंवल फूल ऊपर से मोहक एवं आकर्षक है, किन्तु वह सारहीन एवं खोखला है। इसको सारपूर्ण समझना जीव की मूर्खता है। मानसिक विकारों के कारण इसकी प्रतीति होती है। जब मन अपनी स्थिति को पाता है तब उसे संसार की सारहीनता का पता लगता है, अन्यथा नहीं। जीव को अपना कर्मफल चुकाने के लिए संसार रूपी हाट पर आना पड़ता है और यहाँ आते ही माया रूपी दलाल उसे चारों ओर से घेर लेता है और बिना मूल्य बेचने का प्रयन्न करता है। जीवन एवं जगत की नश्वरता पर प्रकाश डालते हुए कबीर ने बतलाया है—

पानी केरा बुदबुदा, अस मानुष की जात।
देखत ही छिप जायगा, ज्यों तारा परभात।।

मनुष्य जीवन 'कागद की पुडी' या 'कागद का पुतला' है जो पानी की बूंद के पड़ते ही विनष्ट होता है। यहाँ जीवन 'दिवस चारि का पेषणां' है। मनुष्य 'तरुवर बसत पखेरू' के समान 'दिवस चारि के बासी' मात्र है। फिर भी इस मनुष्य जन्म का अपना महत्व है, यह बार बार प्राप्त नहीं होता है। इसे सत्कार्य में लगाने में इसकी सार्थकता है।

सृष्टि तत्व : कबीर ने सृष्टितत्व पर बहुत कम ध्यान दिया है। इसलिए उनके सृष्टितत्व संबंधी विचारों के संबंध में कुछ नहीं कहा जा सकता। उन्होंने यह नहीं बताया कि सृष्टि कैसे हुई और किस क्रम से हुई। कबीर ने ओंकार को जगत की उत्पत्ति का मूल माना है—

ऊंकार आदि है मूला, राजा परजा एकहि सूला।

कबीर के अनुसार शरीर पंचतत्व निर्मित है और ये पंचतत्व अविगत से उत्पन्न हैं। उन्होंने पंचतत्वों में से पवन, अग्नि और जल तत्वों का बार-बार उल्लेख

किया है। उन्होंने यह भी बताया है कि मृत्यु अटल है। किन्तु यह मृत्यु केवल रूप नाश है और कुछ नहीं और इस मृत्यु के साथ ही मिट्टी तत्व मिट्टी से, पवन पवन से मिल जाता है—

माटी माटी रही समाइ, पवनैं पवन लिया संगि लाइ।
कहै कबीर सुंनि पंडित गुंनी, रूप मुवा सब देखैं दुनीं॥

कबीर के अनुसार मृत्यु प्रकाम्य है क्योंकि इस पंचभूत निर्मित शरीर (रूप) के विनाश के साथ ही जीव अपने परमतत्व राम से मिल जाता है—

बिछुरे पंचतत की रचना, तब हम रांमहिं पांवहिगे।

माया : कबीर ने माया तत्व पर पर्याप्त विस्तार के साथ विचार किया है। यह माया 'करम भरम' का मूल कारण है और यह अज्ञान की जननी है। यह संसार माया की टट्टी है जिसे माया ने बांध रखा है। कबीर ने इस माया को परम सुन्दरी नारी के रूप में चित्रित किया है जो सब को अपने रूपाकर्षण से ठग लेती है। वह मोहनी है और इस मोह पाश से सब को फँसा लेती है। इसका कर्म पापाचरण है। उन्होंने कहा है—

माया महाठगिनि हम जानी, तिरगुन फाँस लिये कर डोलै बोलै मधुरी बानी।

इस माया के त्रिगुणात्मक फंदे में जो फँसता है वह उससे छूट पाने का कितना ही प्रयत्न क्यों न करे फिर फिर उसी में उलझता जाता है। यही आशा, तृष्णा की जननी है। इसके काम, क्रोध, मद, मोह एवं लोभ नामक पांच संतानें हैं। ये संतानें जीव को जन्म से घेर लेती हैं तो फिर उनसे छुटकारा पाना कठिन है। माया पापाचारिणी वेश्या है जो सब के साथ भोग करती है। कबीर ने माया को एक वृक्ष का रूपक देकर बतलाया है कि यह माया त्रिगुणात्मक वृक्ष है और दुख तथा संताप इसकी शाखाएँ हैं, जो कभी सपने में भी शीतलता नहीं देतीं। यह माया महा डाकिनी है क्योंकि डाका डालकर वह ज्ञान रूपी रत्न का अपहरण करती है। माया को सेमर फूल कहकर उसकी मोहकता किन्तु सारहीनता पर भी प्रकाश डाला गया है। कबीर ने कनक और कामिनी को माया बताया है क्योंकि इनके प्रति मोह, आकर्षण एवं आसक्ति कभी कम नहीं होती।

इक कंचन इक कामिनी दुरलभ दोउ घाट।

इस माया का संबंध परमात्मा से है। 'तू माया रघुनाथ की, खेलण चढ़ी अहेडै'। यह माया ब्रह्म की दासी है, जो जीव का शिकार खेलती है। परब्रह्म

पर इसका प्रभाव नहीं पड़ता, यह परब्रह्म की वशवर्त्तिनी है। यह त्रिगुणमयी है, सत्व, रज, तम में व्याप्त है और यही त्रिगुणात्मिका सृष्टि रचती है। परमात्मा माया का स्वामी है और जीव उसका दास। जन्म के साथ ही परमात्मा स्वरूप जीव इस माया के पीछे पड़ता है—

पहलैं पूत पीछे भई माइ, चेला कै गुरु लागै पाइ।

यह माया ही सृष्टि का कारण है और इसी के वश में पड़कर जीव अपने स्वरूप को विस्मृत कर बैठता है। वह चौरासी लाख योनियों से होकर गुज़रता है तथा सुख-दुख भोगता है। यही माया क्रोधादि विकारों को उत्पन्न करती है, सत्य को छिपाती है और फलतः जीव असत्य को सत्य मान बैठता है।

अतः कबीर की माया विषयक धारणा बहुत कुछ अद्वैतवादियों के अनुरूप है। पं० परशुराम चतुर्वेदी लिखते हैं—"यह माया ही वस्तुतः उस परमतत्व की नटसारी या लीला भी है। यही वह सत, रज तथा तम के रूप में दीख पड़ने वाली त्रिगुणात्मिका प्रकृति भी है जिसका पसारा सारे जगत् के रूप में लक्षित होता है जो इस प्रकार के जाल में फँसाकर 'अहेड़े' का शिकार खेलने के लिए निकली हुई है।"[१]

साधक को आत्मा और परमात्मा की एकता की अनुभूति होने पर माया जन्य अज्ञान मिट जाता है और वह स्वयं अपने को ब्रह्म समझने लगता है।

सारांश यह कि कबीर के काव्य में दार्शनिक विचारों की अभिव्यक्ति बड़ी मात्रा में पायी जाती है। स्वयं कबीर ने अपनी कविता के संबंध में एक जगह बताया है "तुम्ह जिनि जानौ गीत है, यहु निज ब्रह्म विचार।" अतः कबीर काव्य का मुख्य प्रतिपाद्य ब्रह्म विचार है और खण्डन-मंडन की प्रवृत्ति उसका बाह्य रूप मात्र है। अब प्रश्न यह उठता है कि कबीर का दर्शन भारतीय अद्वैतवाद से प्रभावित है या सूफी एकेश्वरवाद से। वैसे विद्वानों के मत इस संबंध में बँटे हुए हैं; कोई कोई उन्हें भारतीय ब्रह्मवादी मानते हैं तो अन्य लोग यह स्वीकार करते जान पड़ते हैं कि कबीर मुख्यतः सूफी एकेश्वरवाद से प्रभावित थे। गोरखनाथ के प्रति श्रद्धा, नाथ संप्रदाय के अनुसार वेद-विमुखता, पिंड-ब्रह्माण्ड की एकता आदि कबीर में देखकर उन्हें नाथ संप्रदायी सिद्ध करने का भी प्रयास हुआ है। आचार्य शुक्ल कबीर के निर्गुण ब्रह्म को भारतीय ब्रह्मवाद का प्रभाव मानते हैं। वे लिखते हैं—"कबीर ने निराकार के लिए भारतीय वेदान्त का पल्ला पकड़ा, उसी प्रकार उसकी अभिव्यक्ति के

१. कबीर साहित्य की परख, पृ. १०४

लिए सूफियों का प्रेमतत्व लिया।" डॉ० राधाकृष्णन तथा मिस अण्डरहिल ने उन्हें रामानुजीय संप्रदाय के दार्शनिक माना है।

कबीर का ब्रह्म सिद्धान्त भारतीय ब्रह्मवाद की छाया लिये हुए है। उन्होंने भारतीय ब्रह्मवाद के अनुसार ब्रह्म को निर्गुण, निरंजन, निरुपाधि सब कुछ माना है। उनकी अभिव्यक्ति में वेदों की 'नेति नेति' की झलक भी मिलती है। उन्होंने आत्मा-परमात्मा की एकता सिद्ध कर अद्वैतवाद की ओर अपना लगाव भी दर्शाया। अतः उन्हें कोई अद्वैतवादी सिद्ध करना चाहे तो कर सकता है। इतना होते हुए भी ज़रा गंभीरता से विचार करने पर ऐसा लगता है कि कबीर मात्र अद्वैतवादी नहीं थे। आत्मा-परमात्मा की एकता मानते हुए भी कबीर ने जीव की नित्यता कभी स्वीकार नहीं की, जो अद्वैतवाद के प्रतिकूल पड़ती है।

जो ऊग्या सो आथवै, फूल्या सो कुमिलाइ।
जो चिणियां सो ढहि पड़ै, जो आया सो जाइ।

उपनिषदों में ब्रह्म के द्विविध रूप जैसे मूर्त-अमूर्त, मर्त्य-अमर्त्य, सत्-असत को स्वीकृति मिली है। किन्तु कबीर काव्य में ब्रह्म का 'केवल' रूप मात्र स्वीकृत हुआ है। इसके अतिरिक्त उपनिषदीय ब्रह्म ज्ञानाश्रित है, वह ज्ञान से पहचाना जा सकता है। कबीर में ब्रह्म प्राप्ति का साधन ज्ञान नहीं है। वे शास्त्रीय ज्ञान को महत्व नहीं देते। उनके अनुसार ज्ञानाश्रित भक्ति ब्रह्म प्राप्ति का सुगम साधन है। इस भक्ति में भगवान का गुणचिन्तन, नामस्मरण, सत्संगति, गुरु की कृपा आदि सहायक अंग हैं और साधक के ब्रह्म-प्राप्ति के मार्ग में परमतत्व की कृपा भी आवश्यक शर्त है। डॉ० बड़थ्वाल ने संतमत को निवृत्ति मार्ग माना है। "संत कवि केवल ज्ञानमार्गी नहीं, वे ज्ञानोपाधि से ब्रह्म प्राप्ति की कामना नहीं करते। वे चैतन्य स्वरूप आनंद के साधक हैं और इससे आत्म-स्वरूप को पहचानना चाहते हैं। इस के लिए व ह्याडंबर एवं बाह्याचार की व्यर्थता सिद्ध की और भक्ति को प्रश्रय दिया। यह भक्ति स्वरूप ज्ञान से होती है।" हाँ परमतत्व को जान लेने के उपरांत और कुछ जानने का नहीं, इस औपनिषदिक सिद्धान्त के वे समर्थक हैं। उपनिषद् के द्रष्टाओं ने बाह्य खोज से असंतुष्ट हो अपने भीतर ब्रह्म की खोज की, किन्तु कबीर बाहरी खोज को पहले से व्यर्थ मानते हैं और उसका सन्धान भीतर ही भीतर करते हैं। अतः कबीर की विचारधारा में अद्वैतवाद या औपनिषदिक ब्रह्मवाद की झलक भले ही मिले, तो भी दोनों में कुछ बातें पर्याप्त भिन्न हैं।

कबीर को सूफी एकेश्वरवादी मानना भी अनर्गल प्रलाप है। सूफियों का एकेश्वरवाद सर्वेश्वरवाद का ही दूसरा नाम है। उसके अनुसार ईश्वर जगत

से परे है, पर वही जगत में प्रतिबिंबित है और ईश्वर के अतिरिक्त दूसरी कोई सत्ता नहीं है। कबीर के संबंध में निश्चयपूर्वक यह बताया जा सकता है कि इस भंगुर बाह्य जगत में वे परमेश्वर का प्रतिबिंब नहीं देख सके। कबीर का ब्रह्मवाद शांकर वेदान्त के निकट है। सूफियों के 'परमेश्वर के व्यक्त जगत से प्रेम करना परमेश्वर से प्रेम करना है'—सिद्धान्त का कबीर अनुमोदन नहीं कर सके। उनकी दृष्टि में इस बाह्य संसार का अस्तित्व ही नहीं है। इसके अतिरिक्त कबीर की आत्मा-परमात्मा संबंधी मान्यता सूफियों से मेल न खाकर भारतीय सांख्य दर्शन के अनुरूप है। भारतीय एवं सूफी पद्धति में अंतर यह है कि भारत में प्रेयसी प्रियतम से मिलने के लिए तडपती है जबकि सूफी संप्रदाय में प्रियतम प्रियतमा से मिलने के लिए बैचैन होकर तडपता है। यही करण है कि भारत में आत्मा स्त्री रूप में स्वीकार की गयी है और परमात्मा पुरुष रूप में जब कि सूफी लोगों के लिए परमात्मा स्त्री स्वरूप होता है। इसके अतिरिक्त कबीर की प्रेम-पीर पर सूफी प्रेम पीर का आरोप भी प्रामाणिक नहीं है। कबीर रामानंद के शिष्य थे और रामानंदीय पद्धति में ईश्वर के प्रति प्रेमासक्ति का बहुत अधिक महत्व है। इस के अतिरिक्त प्रेम के प्रसंग में कबीर ने ईश्वर के अल्लाह, खुदा आदि नामों से अधिक महत्व वैष्णवों के गोविन्द, हरि, राम आदि नामों को दिया। सूफियों का प्रेम आत्मा-परमात्मा की समानता की भावना पर आधारित है, जब कि अपने को 'राम का कुतिया' कहने वाले कबीर प्रेम के प्रसंग में परमतत्व से हीनतर अपनी स्थिति सिद्ध करते हैं। इन कारणों से कबीर के प्रेम में जो आसक्ति एवं तीव्रता है उसे सूफियों की देन कहना अनुचित जान पड़ता है। सब से उपहास्य बात यह है कि सूफी प्रेम की विरहानुभूति प्रेम के पूर्व होती है। कबीर ने परमतत्व के ज्ञान के उपरांत ही प्रेम की उपस्थिति मानी है। कबीर पर एकेश्वरवाद का निरसन सैद्धान्तिक दृष्टि से भी किया जा सकता है। सूफी एकेश्वरवाद 'लाइलाहे इल्लिलाह मुहम्मद रसूलिल्लाह' (अल्लाह का कोई अल्लाह नही, वह परमेश्वर है और मुहम्मद उसका पैगंबर है।) पर टिका हुआ है, जिसका पैगंबरवाद कबीर को स्वीकार्य नहीं है। साथ ही सूफियों का अल्लाह शाहंशाह, दयालु है, जब कि कबीर के लिए परमतत्व के ये गुण अत्यन्त गौण हैं। सूफियों के अनुसार अल्लाह ने शून्य से सृष्टि का निर्माण किया। उन्होंने सर्वप्रथम मुहम्मदीय आलोक की सृष्टि की और उसी के संबंध से पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि नामक चार तत्वों को उत्पन्न किया। उनके यहाँ आवागमन नहीं है। कबीर ने हिन्दुओं के अनुरूप पंचतत्वों को मान्यता दी और बताया कि जीव आवागमन के चक्कर में फँसकर नाना प्रकार के कष्ट एवं यातनाएँ सहता है। कबीर को एकेश्वरवादी सिद्ध करने वालों द्वारा बहुधा उद्धृत "खलिक खलक, खलक में खालिक, सब घट रह्यो समाई" वाली पंक्ति 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' की भारतीय सर्वात्मवादी भावना

पर बनी हुई है। कबीर की यह पंक्ति ईशावास्योपनिषद् के निम्न लिखित मंत्र से मिलाकर पढ़ने पर दोनों का साम्य स्पष्ट प्रकट होगा—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

हमारा कहने का मतलब इतना ही है कि कबीर को सूफी एकेश्वरवादी नहीं माना जा सकता। कबीर का दर्शन भारतीय है, भारतीय संस्कृति की उपज है। इसका यह भी अर्थ नहीं है कि वे शुद्ध अद्वैतवादी थे। उनके अद्वैतवाद की सीमा पहले ही निर्धारित की गयी है। हमारी दृष्टि में संत कबीर का कोई दार्शनिक मत नहीं है। वे चिन्तक थे, अनुभूतिशील थे और सत्य के द्रष्टा थे। उनके दार्शनिक विचार स्वयं की अनुभूति की उपज मात्र हैं। उन्हें किसी संप्रदाय से बांधने का हमारा प्रयास उनके प्रति भारी अन्याय है।

कबीर का रहस्यवाद

सृष्टि के प्रारंभ काल में ही मनुष्य ने इस जगत् के व्यापक प्रसार के पीछे किसी रहस्यमय सत्ता की स्थिति का अनुभव किया था, जो संपूर्ण चराचर जगत का संचालन करती है। तब से आज पर्यन्त मनुष्य ने उस अपरिमेय शक्ति के संबंध में चिन्तन-मनन किया, पर उसके संबंध में जिज्ञासा की तृप्ति न हुई। सृष्टि के कारणभूत उस अव्यक्त सत्ता को दर्शन, विज्ञान, काव्य सब अपने अपने ढंग से समझाते हैं। धर्म में विश्वास, दर्शन में तर्क और काव्य में भावना का महत्व है। विश्वंभर मानव का कथन है—"दर्शन में जो सिद्धि है धर्म से जो विश्वसनीय, वही काव्य में प्रिय बन जाता है। इस प्रकार दर्शन से पुष्ट धर्म का विश्वसनीय ही काव्य में रहस्यवाद बन जाता है।" डॉ० श्याम-सुन्दरदास ने लिखा है कि व्यक्त जगत् में परोक्ष की अनुभूति का अभिव्यंजन रहस्यवाद है। यहाँ पर कवि की यह स्थिति हो जाती है कि उसकी आत्मा परमात्मा के साथ सन्निवेश या समीकरण प्राप्त करती है। व्यक्त जगत् में अगोचर ब्रह्म की अनुभूति प्राप्त करके उसके प्रति आत्म समर्पण की भावना सजग हो उठती है। डॉ० बच्चूलाल अवस्थी के अनुसार "रहस्यवाद वह काव्य सिद्धान्त है, जिसमें उस विशिष्ट काव्यधारा, काव्य प्रवृत्ति अथवा काव्य शैली की गणना है, जो एक अद्वय, निस्सीम निरपेक्ष सत्य की सुन्दर रूप में व्यंजना करती है, जिसकी व्याप्ति सीमा से असीम तक होती है और जो जीवन तथा जगत का संगम है।"[1] गंगाप्रसाद पांडेय की मान्यता है—"रहस्यवाद हृदय की दिव्य अनुभूति है, जिसके भावावेश में प्राणी अपने ससीम और पार्थिव अस्तित्व से असीम एवं अपार्थिव महाअस्तित्व के साथ एकात्मकता का अनुभव करने लगता है।"[2] आध्यात्मिक अनुभूतियों को जब भाषा के माध्यम से अभि-व्यक्त किया जाता है तो रहस्यवादी काव्य कहलाता है। रहस्यवाद में आत्मा-परमात्मा की प्रणयानुभूति है जो जिज्ञासा से आरंभ होकर दर्शन और विरह के उपरांत मिलन में समाप्त होती है।

१. काव्य में रहस्यवाद, पृ. १३०

२. छायावाद और रहस्यवाद, पृ. ५४.

मनोविज्ञान ने 'मनस्' को चेतन और अचेतन दो भागों में बाँटा है। ये ही दर्शनशास्त्र की जागृत और स्वप्न अवस्थाएँ हैं। कवि जब कविता करने लगता है, तब वह स्वप्न दशा में रहता है। इससे भी आगे की सुषुप्ति दशा में उसे आनंद कोष का प्रत्यय होगा, जो काव्यानुभूति का सच्चा धरातल है। यहाँ सब का आनंद में ही लय हो जाता है। चौथी तुरीयावस्था में अंतर्यामी के साथ उसकी चेतना एकाकार हो जाती है और इस दशा में कवि योगी बनकर द्रष्टा बनकर लिखता है। ऐसा काव्य सच्ची रहस्यानुभूति से प्रेरित लिखा जाता है।

इस रहस्यवाद का एक लंबा इतिहास है। उपनिषद् के ब्रह्मवाद, सांख्य और वेदान्त के 'सोऽहम्' तथा शंकर के अद्वैत सिद्धान्त 'जीवो ब्रह्मैव नापर:' से होकर यही रहस्य भावना विकसित होती गयी। मध्यकाल में रहस्यवाद आध्यात्मिक धरातल पर बहा। मध्यकालीन रहस्य भावना वैयक्तिक थी, ऐकान्तिक साधना थी। आधुनिक रहस्य भावना कई दार्शनिक एवं राजनैतिक सिद्धान्तों से प्रेरित एक व्यापक अनुभूति है। रहस्यवाद छायावाद का प्रधान अंग है, उसकी आत्मा है। आधुनिक काल में आकर रहस्यवाद के कई रूप दिखाई देते हैं जैसे दार्शनिक रहस्यवाद, प्रकृतिमूलक रहस्यवाद और प्रणय मूलक रहस्यवाद।

कबीर हिन्दी के प्रथम रहस्यवादी कवि कहलाते हैं। उनके काव्य में एक अव्यक्त परमसत्ता के प्रति जिज्ञासा एवं प्रणयानुभूति की भावना सुन्दर ढंग से अभिव्यक्त हुई है। उस अव्यक्त सत्ता से अपनी एकाकार परिणति के लिए कभी उन्होंने प्रणय भावना का सहारा लिया है तो कभी हठयोगियों की साधना पद्धति का। इस प्रकार कबीर-काव्य में प्राप्त रहस्यवाद के दो मुख्य रूप देखे जा सकते हैं—भावात्मक (प्रणयमूलक) रहस्यवाद और साधनात्मक रहस्यवाद।

कबीर का भावनात्मक रहस्यवाद हिन्दी की अक्षय निधि है। कबीर का कबीरत्व वास्तव में ऐसे स्थानों में प्रकट होता है। कबीर ने अपनी आत्मा को स्त्री तथा परमात्मा को पुरुष मानकर अपनी भावनात्मक प्रणयानुभूति की सुन्दर अभिव्यंजना की है। कबीर ने बताया है कि माया का पर्दा हटते ही जीव को अपने वास्तविक रूप का ध्यान होने लगता है और तब उसे यह प्रतिभासित होने लगता है कि आत्मा और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं है। कबीर ने भारतीय अद्वैतवाद के अनुरूप ही दोनों के एकरूप का वर्णन कुंभ-जल एवं सागर जल के रूपक द्वारा इस प्रकार किया है—

जल में कुंभ कुंभ में जल है, बाहरि भीतरि पानी।
फूटा कुंभ जल जलहि समांना, यह तथ कह्यो ग्यानी॥

जीव सागर जल में रहते कुंभजल के समान है। सागर एवं कुंभ में एक ही जल है, किन्तु दोनो में विभेदक है कुंभ। इस कुंभ के फूटते ही कुंभ के भीतर का जल सागर जल में मिलकर एकाकार हो जाता है। जीव के भीतर की आत्मा को परमात्मा से पृथक करता है शरीर रूपी कुंभ। इस शरीर के विनष्ट होते ही जीवात्मा परमात्मा में विलीन हो जाती है।

डॉ० रामकुमार वर्मा ने इस रहस्यवाद की तीन स्थितियाँ बतायी हैं। पहली स्थिति वह है जहाँ साधक (आत्मा) विशेष रूप से अनन्त शक्ति के साथ अपना संबंध जोड़ने के लिए प्रयत्नशील होता है। इस समय वह इस संसार की सीमा को पार करके एक ऐसे संसार में जाने के लिए प्रयत्नशील होता है, जहाँ कोई भौतिक बंधन नहीं और जहाँ उसे शारीरिक अवरोधों की परवाह भी नहीं रहती। दूसरी स्थिति वह है जब साधक की आत्मा परमात्मा से प्रेम करने लगती है। उस समय उसकी भावनाएँ इतनी तीव्र हो जाती हैं कि आत्मा में एक प्रकार का उन्माद या पागलपन छा जाता है। तीसरी अवस्था में आत्मा-परमात्मा का मिलन हो जाता है और दोनों का पार्थक्य मिट जाता है तथा जीव को 'अहं ब्रह्मास्मि' तथा 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मं' का ज्ञानोदय हो जाता है।

कबीर काव्य में रहस्यवाद की इन तीनों अवस्थाओं का वर्णन किया गया है। प्रथम स्थिति में उन्होंने भगवान के ऐश्वर्य एव महत्व का वर्णन करते हुए उससे तादात्म्य पाने की जिज्ञासा प्रकट की है। इस स्थिति में कबीर की विशेषता यह है कि यहाँ आध्यात्मिकता बराबर बनी हुई है और परमतत्व के परम ऐश्वर्य का खूब बढ़ा-चढ़ा वर्णन किया है। साधक को इस प्रथम स्थिति के योग्य बनाने का कार्य गुरु करता है। गुरु ज्ञानोपदेश देकर साधक के अज्ञान को दूर करता है तथा ज्ञानवर्तिका हाथ में दे देता है। अब साधक आध्यात्मिक मार्ग के सभी कष्टों को झेलने को उद्यत हो जाता है और परमतत्व का परिचय प्राप्त कर लेता है। कबीर ने अपने परमतत्व का वर्णन करते हुए बताया है कि मेरा परमतत्व अनंत सौन्दर्यशाली एवं तेजोमय है। जहाँ मन वाणी से पहुँचा नहीं जा सकता वहाँ परमतत्व की ज्योति जगमगाती है। तेजस्वरूप के अपरिमेय सौन्दर्य का वर्णन शब्दों द्वारा संभव नहीं है, वह अनुभव करने योग्य है—

> पारब्रह्म के तेज का, कैसा है उनमान।
> कहिबे कूँ सोभा नहीं, देख्या ही परवान॥

साधक जब भौतिक सीमा का उल्लंघन करके आगे बढ़ता है तब उसे बिना मृणाल के फूल दिखाई देता है। यह फूल बिना जल के सदा विकसित रहता

है। शून्य शिखर पर जहाँ न सागर है, न सीप है न स्वाति की बूंद है, मोती द्युतिमय रहता है। प्रभु के प्रज्वलित होते ही साधक का हृदय प्रकाशित हो उठता और मुख कस्तूरी की सुगंध से सुवासित होने लगता है। निराकार परमतत्व की अद्भुत कांति है मानो चंद्रमा के बिना चन्द्र-ज्योत्स्ना छिटक रही हो। कबीर ने उस आध्यात्मिक दर्शनानंद की भी कल्पना की है—

> सच पाया सुख ऊपनां, अरु दिल दरिया पूरि।
> सकल पाप सहजैं गये, जब साईं मिल्या हजूरि॥

कबीर ने अपने रहस्यवाद की दूसरी स्थिति का वर्णन अधिक विस्तार एवं तन्मयता के साथ किया है। यहाँ उन्होंने अपनी आत्मा को विरहिणी के रूप में प्रस्तुत करके परमतत्व के प्रति उसके निश्चल प्रेम का परिचय दिया है। कबीर की विरहिणी आध्यात्मिक प्रियतम से मिलन की प्रतीक्षा लिये खड़ी है, किन्तु बाट जोहते उसकी आँखें थक जाती हैं, राम नाम रटते-रटते जीभ पर छाले पड़ जाते हैं। विरहिणी को अहर्निश एक ही स्मरण, एक ही ध्यान, एक ही चिन्ता बनी रहती है। रास्ते से आते-जाते पथिक को देखकर उत्कंठातुर हो वह दौड़ पड़ती है और उससे एक ही प्रश्न पूछती है कि प्रियतम के दर्शन कब होंगे—

> बिरहिनि ऊभी पंथ सिरि, पंथी बूझै धाइ।
> एक सबद कहि पीव का, कबर मिलैंगे आइ॥

विरहाग्नि में जलती विरहिणी इतनी कृशकाय हो जाती है कि वह उठने-बैठने तक को असमर्थ पाती है। वह चलने के लिए उठती है तो बीच में गिर पड़ती है। इस कारुणिक दशा में वह अपना शरीर जलाकर स्याही बनाने, अस्थियों की लेखनी बनाने और राम नाम लिख भेजने तक का उपक्रम करती है। विरह भुजंग ने उसकी ऐसी दुर्गति कर ली है कि उसने उसका कलेजा कुरेद लिया है और वह शरीर की बांबी में घुस बैठा है कि कोई मंत्र उसे बाहर निकालने में असमर्थ है। विरह भुजंग की मारी विरहिणी की ऐसी कारुणिक स्थिति है कि वह जिन्दा नहीं रह सकती, जिन्दा रहने पर भी वह पगली रह जाती है। वह परमतत्व के दर्शन-लाभ के लिए सब यातनाएँ सह सकती है। वह अपने शरीर का दीपक बनाकर उसमें प्राणों की वर्तिका और रक्त का तेल डालकर प्रियतम का मुख देखने के लिए आतुर-व्याकुल है। यही क्यों, जिस किसी भी वेष से प्रियतम प्रसन्न होगा, उसे पहन लेकर भी वह उसे पाना चाहती है—

> फाड़ि फुटोला धज करौं, कामलड़ी पहिराउं।
> जिहि जिहि भेषाँ हरि मिलैं, सोइ सोइ भेष कराउं॥

कबीर की बिरहिणी की विरह-वेदना अंतहीन है। यह तभी बुझ सकती है जब कि प्रिय दर्शन प्राप्त हो। वह अन्तहीन प्रतीक्षा लिये विरह वेदना सहती हुई प्रिय की बाट जोहती रहती है। कबीर के इस रहस्यात्मक वर्णन में गहरी अनुभूति है, अगाध प्रेम की उत्कंठा है, अनंत प्रतीक्षा है और कसक, वेदना एवं टीस की गहरी चोट है।

कबीर ने रहस्यवाद की तीसरी स्थिति का वर्णन भी मार्मिकता के साथ किया है। इस अवस्था में कहीं तो आध्यात्मिक विवाह का चित्र प्रस्तुत किया है जिसमें विवाह की सारी सामग्री प्रस्तुत है—

दुल्हनीं गावहु मंगलचार,
हम घरि आये हो राजा रांम भरतार॥
तन रत करि मैं मन रत करिहूँ, पंचतत बराती।
रांमदेव मोरै पांहुनैं आये मैं जोबन मैं माती॥

कबीर की आतमा इस आध्यात्मिक विवाह को अपना परम भाग्य मानती है क्योंकि उसका सौभाग्य है कि रामदेव घर बैठे ही उसे प्राप्त हुए। इस अनायास प्राप्त प्रियतम पर वह सदैव एकाधिकार चाहती है और कहती है कि वह अब उन्हें जाने नहीं देगी—

अब तोहि जान न देहूं राम पियारे।
ज्यूं भावै त्यूं होउ हमारे॥

वह सच्ची पतिव्रता एवं एकनिष्ठ प्रेमिका बनकर उसका उपचार करती है और उसे सुखी रखने का प्रयत्न करती है—

नैनों की करी कोठरी, पुतली पलंग बिछाय।
पलकों की चिक डारि कैं पिय को लिया रिझाय॥

प्रिय को एक बार वश में करके वह उसपर पूर्ण अधिकार चाहती है और कहती है कि मैं अब तुम्हारे अतिरिक्त और किसी की ओर देखूंगी नहीं और दूसरों को भी तुम्हारी ओर दृष्टिपात करने नहीं दूंगी। कहीं कहीं आध्यात्मिक मिलन के प्रसंग में 'एकमेवाद्वितीय' स्थिति का वर्णन भी हुआ है जैसे—

लाली मेरे लाल की जित देखौं तित लाल।
लाली देखन मैं गई मैं भी हो गयी लाल॥

कबीर का साधनात्मक रहस्यवाद नाथ पंथियों की हठयोग साधना से प्रभावित है। यहाँ हठयोग साधना की विधियों, पारिभाषिक शब्दों एवं

सांकेतिक प्रतीकों के कारण भावों की मधुरता नहीं, किन्तु साधना की जटिलता है। इस साधनात्मक रहस्यवाद में हठयोग साधना के द्वारा इड़ा-पिंगला नाडियों को एक साथ मिलाकर सुषुम्ना से लगी सर्पाकार कुण्डलिनी को जगाने और उसे ऊर्ध्वमुखी बनाकर शरीरस्थ षड्चक्रों का भेदन करके शून्य शिखर तक पहुँचाने और अनहद नाद का श्रवण कर सहस्रार में स्थित चंद्रमा से निसृत अमृत रस का पान करने का वर्णन है।

प्रकट प्रकास ग्यांन गुरगमि थैं ब्रह्म अगनि प्रजारी।
ससि हरि सूर दूर दूरंतर, लागी जोग जुग तारी।।
उलटे पवन चक्र षट बेधा, मेर डंड सरपूरा।
गगन गरजि मन सुंनि समानां, बाजे अनहद तूरा।।
सुमति सरीर कबीर बिचारी, त्रिकुटी संगम स्वांमीं।
पद आनंद काल थैं छूटै, सुख मैं सुरति समांनी।।

हठयोग साधना के रूप में सुरति को निरति में मिलाने और शंभुद्वार खोलने का वर्णन भी मिलता है—

सुरति समांणी निरति मैं, निरति रही निरधार।
सुरति निरति परचा भया, तब खूले स्यंभ दुवार।।

इडा, पिंगला, सुषुम्ना, कुण्डलिनी, त्रिकुटी, गगन मंडल, भँवरगुफा, सहस्रार-चक्र, शून्य मडल, त्रिवेणी संगम, अनहद नाद आदि पारिभाषिक शब्दो का बार-बार प्रयोग किया गया है और साधना की सिद्धि से प्राप्त आनंद का वर्णन करते हुए बताया गया है कि मुझे ब्रह्मज्ञान का अनुभव प्राप्त हो गया है और कोटि कल्पों तक के लिए विश्राम मिल गया है। सद्गुरु की कृपा से हृदय-कमल विकसित हुआ, भ्रम की निशा मिट गयी और दसों दिशाएँ सूझ पड़ने लगीं और सर्वत्र परम ज्योति का प्रकाश फैल गया है। मन में पूरी शांति हुई। तत्व को पाकर मन ने स्थिरता पायी, आध्यात्मिक आनंद सुलभ हो गया, जिसका वर्णन करते हुए गूँगे की स्थिति हो जाती है।

कबीर के रहस्यवाद का यही संक्षिप्त परिचय है। आचार्य शुक्ल ने बताया है कि कबीर ने भारतीय ब्रह्मवाद के साथ सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद और हठयोगियों के साधनात्मक रहस्यवाद का मेल करके अपना पंथ खड़ा किया है। इसका तात्पर्य यह है कि शुक्लजी ने भी कबीर काव्य में भावात्मक एवं साधनात्मक रहस्यवाद के स्वरूप देखे हैं। पर दुख है, शुक्लजी ने कबीर के रहस्यवाद में शुष्क एवं नीरस ज्ञान का ही दर्शन किया। हाँ जहाँ

कबीर ने साधनात्मक तत्वों का वर्णन किया है वहाँ नीरसता एवं जटिलता अवश्य है, किन्तु उनके विरह वर्णन एवं आध्यात्मिक मिलन के प्रसंगों में शुष्क ज्ञान की बात नहीं है, गहरी अनुभूति एवं भावुकता का दर्शन होता है। कबीर के ऐसे प्रसंग मार्मिक एवं प्रभावकारी हैं।

कबीर एवं जायसी का रहस्यवाद : कबीर तथा जायसी दोनों मध्य-कालीन प्रसिद्ध रहस्यवादी कवि रहे हैं। कबीर पर भारतीय ब्रह्मवाद तथा नाथयोगियों की हठयोग साधना का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है, जब कि सूफी कवि जायसी सूफियों के एकेश्वरवाद तथा हठयोग साधना से प्रभावित थे। आचार्य शुक्ल ने कबीर के रहस्यवाद को साधनात्मक मानकर शुष्क एवं नीरस सिद्ध किया जब कि जायसी के रहस्यवाद को भावात्मक एवं सरस घोषित किया। किन्तु वास्तविकता यह है कि कबीर ने आत्मा को स्त्री तथा परमात्मा को पुरुष मानकर आत्मा के विरह एवं विरह के उपरांत मिलन के जो चित्र अंकित किये हैं, वे अपेक्षाकृत सरस, भावात्मक एवं अनुभूति से बोझिल हैं। जायसी को भी प्रेमोन्माद एवं बेहोशी की अवस्था में एक दिव्य आभास मिलता है और उनके द्वारा वर्णित प्रेमपीर पर्याप्त सुन्दर एवं अनुभूति से बोझिल है। जायसी का हृदय उस आध्यात्मिक तत्व पर खूब रमता है जिस कारण उस आध्यात्मिक शक्ति से मिलने के लिए उनका हृदय धड़क उठता है। रत्नसेन के विरह का सजीव वर्णन देखते ही बनता है—

प्रेम घाव दुख जान न कोई, जोहि लागै जानै पै सोई।
परा सो प्रेम समुद्र अपारा, लहरहिं लहर होई विसंभारा॥

कबीर की विरहिणी भी अपनी विरहजन्य स्थिति का वर्णन करते कहती है—

सोओ तो सुपने मिलै, जागो तो मन मांहि।
लोचन राता सुधि हरी बिछुरत कबहूँ नांहि॥

अतः कबीर तथा जायसी दोनों ने विरह निवेदन एवं प्रेम पीर को रहस्य साधना का प्राण माना है और वहीं उनकी आत्मा की अभिव्यक्ति है, सौन्दर्य है। कबीर ने हठयोगियों की साधना पद्धति पर जो रहस्यवाद चलाया उसमें शुष्क ज्ञान की बातें हैं, कोरा सिद्धान्त प्रतिपादन है। ऐसे स्थानों पर चिन्तन पक्ष प्रबल भले ही हो हृदयगत भावना का अभाव है। जायसी ने हठयोगियों के जैसे जहाँ सिंहलगढ आदि का वर्णन किया, वहाँ साधनात्मक रहस्यवाद एवं भावनात्मक रहस्यवाद, दोनों का सम्मेलन है, इसलिए अपेक्षाकृत प्रभावकारी है।

कबीर तथा जायसी ने समान रूप से रहस्यात्मक अभिव्यक्ति के लिए प्रतीकों का सहारा लिया है। कबीर ने दांपत्य प्रतीक को महत्व दिया। वैसे ही आत्मा एवं परमात्मा के संबंध को कुंभजल एवं सागर जल का प्रतीक देकर उसे पर्याप्त सुन्दर बनाया है। जायसी ने भी आत्मा और परमात्मा के मिलन को शराब और पानी के मिलन से अभिव्यक्त किया। आत्मा परमात्मा में उस प्रकार मिल जाती है जैसे कि पानी शराब से मिलता है।

उपर्युक्त साम्य के रहते हुए भी कबीर और जायसी के रहस्यवाद में वैषम्य भी स्पष्ट है। कबीर ने अपनी रहस्यात्मक अभिव्यक्ति के लिए जायसी के समान किसी प्रेमगाथा का सहारा नहीं लिया। कबीर की रहस्यात्मक अभिव्यक्ति अनुभूति के क्षणों के उद्‌गार मात्र हैं। कबीर ने आत्मा को स्त्री रूप में और परमात्मा को पुरुष रूप में चित्रित करके रहस्यवादी कविताएँ लिखी हैं। जायसी सूफियों की भक्ति भावना के अनुसार परमात्मा को प्रियतमा के रूप में देखते हैं और संपूर्ण जगत में उसके रूप-सौन्दर्य की छाया अनुभव करते हैं। उनका कथन है कि ईश्वर को केवल अन्दर ही देखना व्यर्थ है। यह अनन्त रूपात्मक संसार उसी परमचेतन का प्रतिबिंब मात्र है और उसी में ईश्वर विद्यमान है। इस कारण पद्मावत में प्रकृति का संश्लिष्ट वर्णन प्राप्त होता है। जायसी संपूर्ण प्रकृति में ईश्वर की ज्योति देखते हैं—

> नयन जो देखा कम्बल भा, निरमल नीर सरीर।
> हसत जो देखा हंस भा, दसन ज्योति नग हीर॥

कबीर की सब से बड़ी कमी समझिए, वे ईश्वर को बाह्य जगत में देख नहीं सके। उनके अनुसार परमात्मा जीव के अंतस् में निवास करता है और मनुष्य भ्रमवश उसकी खोज तीर्थस्थानों में करते हैं। इसके अलावा कबीर की आत्मा प्रेमलीला के लिए तरसती है तो जायसी ने प्रेम पीर की अभिव्यक्ति द्वारा प्रेम और सौन्दर्य के चित्र अंकित किये हैं।

संक्षेप में कबीर के विरह संबंधी पदों में प्रेम की धारा बह रही है और मिलन के पदों में आध्यात्मिक तत्व भरा हुआ है। वे सदैव आत्मा के सचेत रूप का ही वर्णन करते हैं और उस परमतत्व से मिलन की आकांक्षा प्रकट करके ही नहीं रह जाते, बल्कि संपूर्ण हृदय से अपनाते हुए भी दिखाई देते हैं। भावुक कवि जायसी में प्रेम और सौन्दर्य की सूक्ष्म अभिव्यक्ति काव्योचित गरिमा के साथ प्रस्तुत है।

कबीर-काव्य में प्रतीक और उलटबांसियां

प्रतीक अंग्रेज़ी के सिम्बल का पर्यायवाची शब्द है। यह अर्थज्ञान या अर्थ प्राप्ति कराता है। प्रतीक के संबंध में देशी-विदेशी विद्वानों ने अपने विचार व्यक्त किये हैं। प्रतीक अपनी विशेष लाक्षणिकता के कारण प्रकृष्ट अर्थ की व्यंजना करता है। एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका के अनुसार प्रतीक शब्द का प्रयोग उस दृश्य वस्तु के लिए होता है जो मस्तिष्क के सम्मुख किसी अप्रस्तुत वस्तु के सादृश्य को अपने संबंध सूत्रों द्वारा प्रस्तुत करती है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि प्रतीक रूपकातिशयोक्ति अलंकार का विषय है। प्रतीक बहुधा अदृश्य या अमूर्त वस्तु का प्रतिविधान करने वाला दृश्य संकेत है। कवि लोग अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों को साधारण भाषा में अभिव्यक्त करने में जब कठिनाई का अनुभव करते हैं, तब उन्हें कुछ स्थूल तत्वों से प्रकट करने लगते हैं और ये स्थूल तत्व उनके प्रतीक बन जाते हैं।

प्रतीकों का प्रसार भाषा, साहित्य, कला, धर्म, दर्शन, जीवन सभी तक है। काव्य में प्रतीक योजना अभिव्यंजना की एक विशेष शैली है। अमूर्त वस्तु का रूप खडा करना प्रतीक का मुख्य लक्ष्य है। प्रतीक योजना जितनी ही स्वाभाविक एवं प्रेषणीय हो, रूप उतना ही स्पष्ट और प्रभावकारी बनेगा। प्रतीक सौन्दर्य उत्पन्न करता है। उसमें भावोद्‌बोधन की अपूर्व क्षमता होनी चाहिए, साथ ही उसमें अद्‌भुत व्यंजना का गुण भी आवश्यक है। इससे भाषा की शक्ति बढ़ती है और वर्ण्य वस्तु रोचक एवं आकर्षक रूप में प्रस्तुत होती है। प्रतीक योजना का आधार साम्य है, जो चार प्रकार का होता है—सादृश्य, साधर्म्य, शाब्दिक साम्य और प्रभाव साम्य। सादृश्य में रूप साम्य, साधर्म्य में धर्म साम्य, शाब्दिक साम्य में अनेकार्थक शब्दों की क्रीड़ा है। इन तीनों के अतिरिक्त प्रभाव साम्य को दृष्टि में रखकर भी प्रतीक योजना की जाती है, जैसे छायावादी काव्य में हम बहुधा पाते हैं। रहस्यवादी कविता में पाये जाने वाले प्रतीक विधान का आधार भी यही प्रभाव साम्य है।

प्रतीकों के वर्गीकरण के दो आधार लिये जाते हैं—अर्थगत एवं स्रोतगत। अर्थगत प्रतीकों के सांकेतिक, अभिव्यंजनात्मक एवं आरोपमूलक—ये तीन भेद

किये जा सकते हैं। स्रोतगत प्रतीकों में यह देखा जाता है कि कवि ने अपने प्रतीक कहाँ से ग्रहण किये हैं। उसके बहुधा तीन भेद किये जाते हैं— परंपरागत, वैयक्तिक एवं प्राकृतिक।

भारतीय साहित्य में प्रतीक योजना की दीर्घकालीन परंपरा है। प्रतीक योजना के द्वारा वेदों में आत्मा-परमात्मा के स्वभावों का वर्णन हुआ है। ऋग्वेद की 'द्वासुपर्णा' प्रतीक है जिसमें आत्मा और परमात्मा को पक्षी का प्रतीक प्रदान किया गया है। रामायण और महाभारत अवश्य ही प्रतीकात्मक काव्य हैं। इनमें सत्व एवं रजोगुण के दीर्घकालीन संघर्ष तथा रजोगुण पर सत्वगुण की विजय की गाथा प्रतीकों में वर्णित है।

हिन्दी में कबीर अपने प्रतीकों के लिए पर्याप्त प्रसिद्ध हैं। कबीर ने अपने रहस्यात्मक विचारों, अनुभूतियों को प्रतीकात्मक रूप में अभिव्यक्त किया है। कबीर के श्रोता सामान्य कुसंस्कृत लोग थे और उनके सामने अमूर्त परमात्मा को संकेतित करने और उसे प्रेषित करने की बड़ी समस्या थी। कबीर काव्य का मुख्य विषय ज्योति चर्चा है। उनके परमात्मा की ज्योतिसत्ता में ज्ञान स्वरूपता का आरोप है। कबीर ने अपने आध्यात्मिक एवं दार्शनिक ज्ञान की अभिव्यक्ति के लिए प्रतीक अपनाये। उन्होंने सामन्य जीवन तथ्यों तथा चित्रों को प्रतीक के रूप में अपनाया, ताकि सामान्य जनता के लिए ग्राह्य हो सकें। कबीर के इन प्रतीकों के दो भेद बनाये जा सकते हैं— समर्थ प्रतीक एवं सांकेतिक प्रतीक। जहाँ वस्तु किसी पूर्ण की सूचना देती है वहाँ समर्थ प्रतीकत्व है और जहाँ वस्तु संकेत मात्र उपस्थित करती है वहाँ सांकेतिक प्रतीक है। कबीर के अधिकतर प्रतीक सांकेतिक हैं। यह सांकेतिकता रूढ़ि, प्रयोजन अथवा काल्पनिकता के संबंध से आती है। कबीर ने अधिकतर परंपरागत प्रतीकों को अपनाया। उनके ये परंपरागत प्रतीक भी कुछ तो सांकेतिक हैं और कुछ पारिभाषिक। कबीर ने अपने समय में प्रचलित नाथ पंथियों, योगियों के साधनापरक प्रतीकों को ग्रहण किया और उन्हें नया उत्कर्ष प्रदान किया। आगे हम कबीर के कुछ प्रतीकों की परीक्षा करेंगे।

कबीर पर वैष्णव प्रभाव पड़ा था। उन्होंने वैष्णवों के प्रभाव में आकर आत्मा-परमात्मा के संबंध को दर्शाने के लिए दाम्पत्य प्रतीकों का आश्रय लिया। आत्मा-परमात्मा के लिए पति-पत्नी का प्रतीक अत्यन्त प्रभावकारी है। परमात्मा से बिछुड़ी आत्मा को विरहिणी रूप में चित्रित करके उन्होंने उसकी कसक, पीड़ा, मिलनातुरता एवं उत्कंठा की सुन्दर अभिव्यंजना की है—

फाड़ि फुटोला धज करौं, काम लड़ी पहिराउं।
जिहि जिहि भेषां हरि मिलै, सोइ भेष कराउं।।

जहाँ उन्होने विरहानुभूति को प्रतीकों के द्वारा स्पष्ट किया, वहाँ महामिलन के सुख को भी दांपत्य प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त कर काव्य को प्रभावकारी बनाया। ऐसे प्रतीकों पर भारतीय संस्कार स्पष्ट है—

दुलहनीं गावहु मंगलचार,
हम घरि आये हो राजा रांम भरतार।
तन रत करि मैं मन रत करिहूँ, पंचतत बराती।
रांमदेव मोरै पांहुनैं आये, मैं जोबन मैं माती॥

कबीर के कुछ दार्शनिक प्रतीक अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। जीवात्मा एव परमात्मा का संबंध स्पष्ट करने के लिए उन्होंने कुंभजल एवं सागर जल का प्रतीक अपनाया। सागर जल निस्सीम, व्यापक एवं गहरा है। कुंभजल भी सागर जल का ही अंश है, किन्तु कुंभ दोनों को पृथक् किये हुए है। कुंभ के फूटने तक कुभजल का पृथक् अस्तित्व है, बाद में कुंभजल जाकर सागर जल से मिलकर तदाकार हो जाता है। इस दार्शनिक सिद्धान्त का प्रतीकात्मक वर्णन कितना सुन्दर है—

जल मैं कुंभ कुंभ मैं जल है, बाहरि भीतरि पांनीं।
फूटा कुंभ जल जलहि समांनां, यहु तत कथौ गियानीं॥

कबीर का यह प्रतीक-विधान परंपराश्रित है, जैसा वर्णन हठयोग प्रदीपिका में इस प्रकार प्राप्त होता है—

अन्तः शून्यो बहिः शून्यः शून्यकुम्भ इवाम्बरे।
अन्तः पूर्णो बहिः पूर्णः पूर्णः कुम्भ इवार्णवे॥

मृत्यु जीवन में अपरिहार्य है, कोई इस मृत्यु से बच नहीं सकता। काल आकर आज नहीं तो कल जीव को पकड़ ले जाता है। जीवन की इस क्षणिकता को दर्शाने वाला प्रतीकात्मक चित्रण इस प्रकार है—

माली आवत देखि करि कलियाँ करैं पुकारि।
फूले फूले चुनि लिये, काल्ही हमारी बार॥

उपर्युक्त दोहे में माली काल का तथा कलियाँ जीव का प्रतीक है। इन प्रतीकों के द्वारा दार्शनिक तत्व को प्रतिपादित किया गया है।

कबीर के कुछ सांकेतिक प्रतीक भी महत्वपूर्ण हैं। जिन दृश्य पदार्थों अथवा नादों के माध्यम से ज्ञात वस्तुओं का ज्ञान होता है, वे संकेत हैं।

कबीर काव्य में आये पंडित, मुल्ला, माया, विरहिणी, सुन्दरी, सिंह, घट, तरुवर, गाय, सूर्य, चंद्र, गंगा, यमुना, सरस्वती सब सांकेतिक प्रतीक हैं जो इतर वस्तुओं की ओर संकेत करते हैं। उदाहरण के लिए कबीर का 'पंडित' लीजिए। हजारीप्रसाद द्विवेदी जी लिखते हैं—'कबीर का पंडित अदना आदमी है, तत्वज्ञान से रहित, बाह्याचार के आतंक से आतंकित एवं आत्मज्ञान शून्य, व्रत-उपासना का कट्टर विश्वासी और धार्मिक बंधनों में अटूट विश्वास रखने वाला अटूट गवार।''[1] उनके मुल्ला और काजी बाह्याचार के प्रतीक हैं। उनकी माया जीव को मुग्ध एवं मोहित कर उससे पापाचार कराने वाली जारिणी है। वैसे ही कबीर ने रूप एवं धर्म के साम्य पर जीवात्मा की ओर संकेत करने वाले पुत्र, जुलाहा, दुल्हा, सिंह, सती, विरहिणी, सुन्दरी आदि शब्दों का प्रयोग किया है। शरीर के लिए 'घट' शब्द का प्रयोग उसकी क्षणिकता एवं नश्वरता की ओर संकेत करता है। वैसे ही संसार, जगत, जीवन आदि शब्द भी कबीर काव्य में सांकेतिक अर्थ प्रदान करते हैं। संसार संसरणशील है, जगत गतिमान है और जीवन मरणशील। कबीर ने योगसाधना के सांकेतिक शब्दों का बहुतायत से प्रयोग किया है। योग साधना में इड़ा पिंगला सुषुम्ना ने जीवन वाहिनी होने से गंगा, यमुना सरस्वती का प्रतीकत्व धारण किया। शिव संहिता में आया है—

> गंगायमुनयोर्मध्ये वहत्येषा सरस्वती।
> तासान्तु संगमे स्नात्वा धन्यो याति परांगतिम्॥

कबीर ने भी गंगा यमुना तथा सरस्वती के संगमतीर्थ में स्नान करके आनंदलाभ पाने का उपदेश दिया है। इसके अतिरिक्त योगसाधनापरक सांकेतिक एवं पारिभाषिक प्रतीक कबीर काव्य में सुलभ हैं। निम्न पंक्तियों में सिद्धों नाथों का प्रभाव स्पष्ट है—

> आकासे मुखि औंधा कुआ, पाताले पनिहारि।
> ताका पाणि को हँसा पीवें, बिरला आदि बिचारि॥

यह उदाहरण सांकेतिक प्रतीक का है तो पारिभाषिक प्रतीकों के लिए द्रष्टव्य है—

> सुरति समाणी निरति मैं, निरति रही निरधार।
> सुरति निरति जब परचा भया, तब खूले स्यंभ दुवार॥

कबीर ने सिद्धों नाथों से संख्यामूलक प्रतीक भी बड़ी मात्रा में अपनाये और

---

१. कबीर, पृ. १३२.

अपने काव्य में उनका प्रयोग भी किया। उनके कुछ संख्यामूलक प्रतीक अत्यन्त क्लिष्ट एवं दुरूह भी हैं। 'पंच चोर दस द्वार', पंच संगी, छठा जु सुमिरे मन, आदि का उल्लेख कई बार हुआ है। माया को डाकिनी का रूप देकर उसके काम, क्रोध, मद, लोभ एवं मत्सर नामक पाँच पुत्रों की कल्पना की गयी है—

नाइक एक बनिजारे पाँच, बैल पचीस को संग साथ।

चौंसठ दीपक एवं चौदह चंदा का संख्यामूलक प्रतीक द्रष्टव्य है—

चौंसठि दीवा जोइ कर चौदह चंदा माँहि।
तिहि घरि किसका चानिणा, जिहि घरि गोविंद नांहि॥

उलटबाँसियाँ : प्रतीक योजना के समान कबीर अपनी उलटवाँसियों के लिए भी पर्याप्त प्रसिद्ध हैं। कबीर की उलटवाँसियाँ सामान्य जनता में प्रचलित हैं। बहुधा कबीर की ये उलटवाँसियाँ अपनी सांकेतिकता एवं निगूढ़ अर्थ के कारण सामान्य जनता के लिए दुरूह सिद्ध होती हैं और बहुधा विद्वानों ने इनके गूढ़ार्थ की खोज की है। विद्वानों ने एक ही उलटवाँसी के अपनी अपनी सूझ के अनुसार कई प्रकार के अर्थ व्यंजित किये हैं।

'उलटवाँसी' को समझाने तथा उसका व्युत्पत्यर्थ निकालने का प्रयत्न विद्वानों ने किया है। डॉ. सरनामसिंह इसकी दो व्युत्पत्तियाँ मानते हैं— उलटवाँ-सी तथा उलटवास। पहले का अर्थ है उलटी हुई प्रतीत होने वाली उक्ति। दूसरे का अर्थ समझाते हुए उनका कथन है —"आध्यात्मिक अनुभूतियाँ लोक विपरीत अनुभूतियाँ होती हैं और उन अनुभूतियों को व्यक्त करनेवाली वाणी लोक दृष्टि से उलटी प्रतीत होती हैं, वास्तव मे वह उलटी नहीं होती।"[1] पं. परशुराम चतुर्वेदी का विचार है कि ऐसी रचना का प्रमुख उद्देश्य किसी बात का किसी विपरीत वा असाधारण कथन के द्वारा वर्णन करना है। डॉ. रामखेलावन पांडेय की मान्यता है कि उलटवाँसियाँ संकेत गर्भा हैं और इन संकेतों के ज्ञान के अभाव में इनका समझना असंभव है।[2]

उलटवाँसियों का प्रयोग वेदों में पाया जा सकता है। इस शैली का विकास तांत्रिकों, वज्रयानी सिद्धों आदि के हाथ हुआ। सिद्धों में अपनी बातों को गुप्त रखने की परिपाटि थी और इस उद्देश्य से उन्होंने एक विचित्र शैली अपनायी, जिसे विद्वानो ने संध्या भाषा की संज्ञा दी। इस शैली में अभिधात्मक अर्थ के स्थान पर सांकेतिक अर्थ को महत्व दिया जाता था। गोपनवृत्ति के साथ ही चमत्कार प्रदर्शन के

१. कबीर एक विवेचन, पृ. ३२२.
२. मध्यकालीन संतसाहित्य, पृ. २८३.

लिए भी उनके यहाँ इस विचित्र शैली का उपयोग होता रहा। गोरखनाथ और उनके अनुयायियों ने भी अपनी आध्यात्मिक बातें पहेलियों में समझायी थीं। गोरख बानी में इस शैली को 'उलटी चर्चा' कहा गया है। जो भी हो रहस्यात्मक एवं आध्यात्मिक बातों को विचित्र कथन शैली में कहने की परंपरा प्राचीन है। कबीर ने सिद्धों एवं गोरखपंथियों से यह उलटवाँसी शैली अपनायी। किन्तु कबीर की इस शैली का उद्देश्य चमत्कार प्रदर्शन नहीं था। वे अपनी अनुभूति को अभिधात्मक शैली में अभिव्यक्त करने में कठिनाई का अनुभव करने लगे तो संकेतार्थ को महत्व देकर उन्हें अभिव्यक्त करने लगे। अतः कबीर में गोपनवृत्ति या चमत्कार प्रदर्शन की भावना बिलकुल नहीं है। कबीर की अधिकांश उलटवाँसियाँ औपनिषदिक परंपरा में आयी है जिनमें अलौकिक एवं आध्यात्मिक तत्वों का प्रकाशन है। इनको चाहे तो हम सांकेतिक एवं प्रतीकात्मक मान सकते हैं। हाँ सांकेतिक अर्थ समझे बिना इनका तात्पर्य समझना कठिन है। कबीर ने अपनी इस शैली को बहुधा 'उलटि बेद' नाम दिया है। उनकी ये उलटबाँसियाँ कुछ तो प्रतीकों पारिभाषिक शब्दों पर आश्रित हैं और कुछ का संबंध विरोधाभास, विभावना, असंगति आदि अलंकारों से है। विषय की दृष्टि से कबीर की उलटवाँसियाँ पाँच प्रकार की मानी जाती हैं—१) संसार से संबंधित (२) परमात्मा से संबंधित (३) योग साधना से संबंधित, (४) भक्ति से संबंधित और (५) उपदेश से संबंधित।

कबीर की प्रतीक प्रधान उलटवाँसियाँ ज्ञान के गूढ़ तत्वों की व्यंजना करती हैं। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

> एक अचंभा देखा रे भई, ठाढ़ा सिंघ चरावै गाई।
> पहलैं पूत पीछे भई माइ, चेला कै गुर लागै पाइ।
> जल की मछली तरवर ब्याई, पकड़ि बिलाई मुरगै खाई।
> बैलहि डारि गूंनि घरि आई, कुत्ता कूँ लै गई बिलाई॥

> तलि करि साषा ऊपरि करि मूल, बहुत भाँति जड़ लागें फूल।
> कहै कबीर या पद कौं बूझै, ताकूं तीन्यूं त्रिभुवन सूझै॥

इस पद में सिंघ और गाई सांकेतिक प्रतीक हैं जो क्रमशः ज्ञान और वासना के लिए प्रयुक्त हैं। पूत और माइ प्रतीक जीव और माया की ओर संकेत करते हैं। वैसे ही 'मछली' कुण्डलिनी तथा 'तरवर' मेरु दंड के अर्थ में आया है। 'कुत्ता' अज्ञानी तथा 'बिल्ली' माया के लिए प्रयुक्त है। अंतिम पंक्तियों में औपनिषदिक प्रभाव भी स्पष्ट है। गीता की उक्ति के अनुसार ही कबीर ने संसार वृक्ष की शाखाओं को अधोमुखी और मूल को ऊर्ध्वमुखी सिद्ध किया है। कबीर ने

विरोधाभास अलंकार का सहारा लिया है। इस प्रकार यह उल्टवाँसी कबीर की विचित्र शैली की परिचायक है।

निम्न पद में साधनात्मक अनुभूति को विरोधाभास अलंकार के सहारे प्रकट किया है—

> ऐसा अद्भुत मेरे गुरि कथ्या, मैं रह्या उभेषै।
> मूसा हसती सौं लड़ै, कोई बिरला पेषै॥
> मूसा पैठा बांबि मैं, लारै सापणि धाई।
> उलटि मूसै सापणि गिली, यहु अचरज भाई॥

कबीर का कथन है कि सद्गुरु ने परब्रह्म का स्वरूपज्ञान इस अद्भुत ढंग से कराया कि मैं आश्चर्यान्वित हो देखता ही रह गया। फलतः मैंने देखा कि मन माया रूपी हाथी से लड़ता है और उसे परास्त करता है। मन साधना में स्थित होता है तो माया रूपी सर्पिणी उसकी ओर लपकती है, किन्तु वह साधक का कुछ बिगाड़ नहीं पाती, साधक उस पर विजय प्राप्त करता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर के काव्य में उलटवाँसियों की प्रचुरता है। कुछ का संबंध आध्यात्मिक अनुभूतियों से है तो कुछ का योगसाधना से। इनके द्वारा कबीर ने अपने चिंतन एवं अनुभव की बातें समझायी हैं। कहीं-कहीं उन्होंने लोक जीवन एवं व्यवसायों पर आधारित उलटबाँसियाँ भी बनायी हैं। जो भी हो इनमें भले ही अद्भुत ज्ञान भरा हो, ये बिलकुल बौद्धिक कसरत की वस्तुएँ हैं और इनमें साधारण पाठक को प्रभावित करने की क्षमता नहीं है। संभवतः इन्हीं उलटबाँसियों को देखकर आचार्य शुक्ल ने कबीर के रहस्यवाद की निन्दा की, उसे शुष्क एवं नीरस बताया।

कबीर का कलापक्ष

कबीरदास, जैसा कि इसके पहले बताया गया है, समाज सुधारक, चिन्तक एवं समाज-द्रष्टा थे। सामाजिक विषमता को दूर कर एक आदर्शपूर्ण समाज का सगठन उनका उद्देश्य था। उस के लिए समाज एवं धर्म के क्षेत्र में प्रचलित रूढ़िवादिता एवं बाह्याडबर को दूर करने का उन्हों ने प्रयत्न किया। वे मानव को मानव जैसा देखना चाहते थे। साथ ही वे अपनी आध्यात्मिक अनुभूति को भी वाणी देते थे। इस प्रकार उनके काव्य के स्पष्टतः दो भेद हो सकते हैं—सिद्धान्त निरूपण एवं आध्यात्मिक अनुभूति का प्रकाशन। कबीर की कविता इस का माध्यम मात्र थी। उनके मन में कविता करके यश पाने का लोभ नहीं था और न वे उस योग्य ही थे कि काव्यशास्त्रीय पद्धति पर कविता लिख सकें। उनकी कविता उनके विचारों की वाहिका मात्र थी। कबीर का विषयगत क्षेत्र सीमित था और उनके श्रोताओं की भी अपनी सीमाएँ थीं। कबीर जिस जनता के सामने अपना उपदेश दिया करते थे, वह कोई प्रबुद्ध या सुशिक्षित श्रोता नहीं थी। वह कुसंस्कारी, मूर्ख, अपढ़ एवं काव्य प्रतिभाहीन थी। अतः सुसंस्कृत काव्यशैली की वहाँ अपेक्षा नहीं थी। अतः कबीर की कविता का कलापक्ष केवल इस योग्य था कि वह कबीर की अनुभूति को सामान्य जनता तक पहुँचाने की सामर्थ्य रखे। कबीर से इस से अधिक की प्रतीक्षा नहीं की जा सकती।

अतः कबीर के काव्य में कलापक्ष की खोज करना उचित नहीं है क्योंकि उन्होंने कला पारखियों के लिए कविता नही लिखी है, वल्कि जो कुछ खजरी पर ठीक बैठ गया, या जो कुछ गाते समय हृदय से उद्‌गार निकल गया, वही कबीर की कविता है। 'मसि कागद छूओ नहीं' ऐसे कबीर से काव्यशास्त्र के ज्ञान की अपेक्षा नहीं कर सकते। फिर भी कबीर की कलागत विशेषताओं पर सरसरी दृष्टि से देखना अनुचित भी नही होगा।

भाषा : देश- विदेश का भ्रमण करते रहने के कारण कबीर ने अनुभव के द्वारा पर्याप्त ज्ञान प्राप्त किया था और उनपर कई बोलियों का प्रभाव भी पड़ा था। अतः अपने ज्ञानोपदेश के लिए कई बोलियों के सम्मिश्रण से बनी एक भाषा का ही उन्होंने प्रयोग किया है, जिसे विद्वानों ने सधुक्कडी भाषा की संज्ञा दी। कबीर ने अपनी भाषा को 'पूरबी बोली' कहा, किन्तु उसमें

राजस्थानी, पंजाबी, गुजराती, व्रजभाषा, मारवाड़ी, खड़ीबोली और अरबी-फारसी सब का मिश्रण ही मिलता है। एक तो कबीर साधु थे, घुमक्कड़ थे। दूसरे कबीर ने स्वयं अपनी कविता लिपिबद्ध नहीं की, उनके शिष्यों ने उसे लिपिबद्ध किया। उनके शिष्य विविध प्रदेश के थे, इस लिए स्वाभाविक है कि उन्होंने अपना संस्कार एव प्रादेशिक गुण जोड़कर उनकी कविता लिख डाली हो। इस कारण कबीर की कविता का मूल रूप पहचान पाना ही बड़ी समस्या है।

इतना तो निश्चित है कि कबीर की भाषा अपरिष्कृत है, उसमें साहित्यिक सौन्दर्य का अभाव है। वैसे कबीर का स्वयं कथन है 'संसकिरत जैसे कूप जल, भाषा बहता नीर।' अतः कबीर में भाषा को नियमों में बांध रखने तथा उसकी सहज गति को रोकने की इच्छा नहीं थी। उन्होने सामान्य जनता की बोलचाल की भाषा अपनायी। तभी तो डॉ० रामकुमार वर्माजी का मत है कि भाषा बहुत अपरिष्कृत है, उसमें कोई विशेष सौन्दर्य नहीं है। डॉ० हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने कहा है कि कबीर की भाषा सधुक्कडी ही नहीं अपितु संध्या भाषा की परंपरा में थी। इस प्रसंग में हमारा यह मत है कि कबीर की भाषा को सधुक्कड़ी कहना अनुचित है क्योंकि सधुक्कड़ी का अर्थ है मिली जुली कृत्रिम भाषा। किन्तु कबीर की भाषा में कृत्रिमता लेशमात्र भी नहीं है, उसमें स्वाभाविकता है और जिस विचार की अभिव्यक्ति करनी थी, उसके लिए वह सक्षम भी थी। कबीर की भाषा समझने के लिए सिद्धों की रहस्यवादिता, प्रतीक-पद्धति एवं संकेत से परिचय होना आवश्यक है क्योंकि उनकी भाषाशैली इनसे पर्याप्त प्रभावित है। प्रतीक योजना के प्रसंग में हमने यह देखा कि कबीर बहुधा प्रतीकों की भाषा में बोलना जानते हैं और उनके प्रतीकों का सांकेतिक अर्थ समझे बिना उनका भाव समझना दुष्कर है।

कबीर की भाषा की सब से बड़ी विशेषता उसकी स्पष्टता है। कबीर अपना भाव बहुधा सीधी सादी भाषा में अभिव्यक्त करते हैं। ऐसे स्थानों में प्रसाद गुण का दर्शन होता है, जैसे—

पोथी पढ़ि पढि जग मुवा, पंडित भया न कोई।
एकै अषिर पीव का, पढ़ै सुपंडित होइ ॥

ऐसे स्थानों में सहजता, स्वाभाविकता एवं सरलता विद्यमान है। किन्तु रहस्यात्मक अनुभूतियों का चित्र उतारते समय कबीर की भाषा अपनी सांकेतिकता, व्यंजकता एवं उलटवाँसी शैली के कारण बहुधा दुरूह बन जाती है। वहाँ बौद्धिक चमत्कार अधिक होने से हमारी बुद्धि पर बल पड़ता है और विवक्षित भाव को हृदयंगम करने के लिए माथा पच्ची करनी पड़ती है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

कहै कबीर सुनहु रे संतो गड़री परबत खावा।
चकवा बैसि अगारे निगलै, समंद अकासां धावा॥

कबीर की ऐसी उलटबाँसियाँ भले ही क्लिष्ट हों, किन्तु अध्यात्मतत्व को अभिव्यक्त करने का यही सक्षम साधन है। इस लिए कबीर को इस शैली का प्रयोग करना पड़ा।

उनके शब्दों में कहीं-कहीं गंभीर ध्वनि है, जिसमें उनकी गंभीर अनुभूति का विलास है। जहाँ प्रतिद्वन्द्वियों को मुंहतोड़ उत्तर देना है, वहाँ उनकी भाषा की उग्रता ज्वालामुखी-सी उबल पड़ती है और वे करारा व्यंग्य कसते हैं। वहाँ उनका प्रयुक्त संबोधन शब्द ही मार्मिक एवं पैनी छुरी के समान तेज है। देखिये—

पांडे कौन कुमति तोहि लागी,
तूँ राम न जपहि अभागी॥
बेद पुरांन पढ़त अस पांडे, खर चंदन जैसें भारा।
रांम नांम तत समझत नांही, अंति पड़ै मुखि छारा॥

जहाँ प्रेम की तरलता, ईश्वरीय अनुभूति का अद्भुत सौन्दर्य आदि प्रकट करना है, वहाँ भाषा एवं प्रयुक्त शब्दों में तन्मयता, मधुरता, तल्लीनता एवं भावावेश है। इस पकार कबीर की भाषा में जहाँ तरलता है वहाँ मेघ गर्जन भी है, जहाँ मान्द्रता है वहाँ परुषता भी है, जहाँ कोमलता है वहाँ कठोरता भी है। यहीं कबीर की भाषा की अभिव्यक्ति-क्षमता प्रकट होती है।

कबीर की भाषा में चित्रात्मकता एवं प्रेषणीयता है। वे अपनी अनुभूति को जहाँ तक हो सके मूर्ति विधायिनी भाषा के माध्यम से प्रकट करते हैं। कबीर की भाषा का यह बिम्ब धर्म उनके विशेषण पद, अप्रस्तुत योजना एवं प्रतीक पद्धति पर निर्भर है। कबीर मुख्यतः शृंगार एवं शान्त भाव में तन्मय थे और उनसे संबंधित भावों के बिम्ब उनके काव्य में प्रस्तुत हैं। आत्मा को विरहिणी रूप में कल्पित कर कबीर ने उसके विकल प्राणों की पुकार, मर्म व्यथा की टूक और भावनाओं का मार्मिक रूप अंकित किया है, कि हमारे सम्मुख विरहिणी सभी भावों के साथ मूर्तित हो उठती है—

बिरहनि ऊभी पंथ सिरि, पंथी पूछै धाय।
एक सबद कहि पीव का, कबर मिलैंगे आय॥

वैसे ही संसार की क्षणिकता, नश्वरता को मूर्तित करने के लिए वे पानी केरा बुदबुदा, कागद की पुडिया जैसे अप्रस्तुतों को चुनते है तो प्रतीकों के सहारे दार्शनिक विचारों को सुन्दर अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं। परमात्मा रूपी मानसरोवर में मुक्तात्मा रूपी हंस के आध्यात्मिक आनंद रूपी मोती चुगने का बिम्ब दार्शनिक होता हुआ भी पर्याप्त कमनीय है—

मानसरोवर सुभग जल, हंसा केलि कराहिं।
मुक्ताहल मुक्ता चुगैं, अब उड़ि अनत न जाहिं ।।

कबीर की भाषा में प्रेषणीयता मुहावरों, लोकोक्तियों के उचित सन्निवेश से भी बढ़ी है। उनकी लोकोक्तियाँ सामाजिक एवं पारिवारिक क्षेत्र से अपनायी गयी हैं। 'अब पछताए होत क्या, चिडिया चुग गयी खेत', 'जो ऊग्या सो आथवै, जो आया सो जाय', 'पाँव कुल्हाड़ी मारिया, मूरख अपने हाथ', 'अंधा अंधा ठेलिया, दोउ कूप परंत' आदि प्रयोग इतने सशक्त हैं कि वे भावों को चित्र रूप में उतार देते हैं।

अलंकार : अलंकार काव्य की शोभा बढ़ाने वाला तत्व है और उसके उचित सन्निवेश से भावों, बिचारों की प्रेषणीयता बढ़ती है। कबीर ने साधर्म्य मूलक अलंकारों का अधिक प्रयोग किया है। उनके अप्रस्तुतों में अद्भुत भाव-प्रवणता एवं उर्वर कल्पनाशक्ति निहित है। उनके उपमानों में पर्याप्त मौलिकता है। अनुभूतियों ने उनकी वाणी को उपमान प्रदान किये हैं और उनके सारे उपमान जीवन के दैनिक व्यापारों से गृहीत हैं। इस कारण उनमें भावों को साधारण जनता तक पहुँचाने की अद्भुत सामर्थ्य स्वयं आ गयी है। रूपक, उत्प्रेक्षा, उपमा, अन्योक्ति, दृष्टांत आदि उनके सब से प्रिय अलंकार हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं कि वे शब्दालंकारों का प्रयोग नहीं कर सके। कबीर काव्य में अनुप्रास एवं यमक अलंकारों का प्रयोग हुआ है। उनका यमक अलंकर पर्याप्त कलात्मक है। उदाहरण के लिए—

माला फेरत जुग भया, फिरा न मन का फेर।
करका मनका फेर दे, मन का मनका फेर ।।

अर्थालंकारों में कबीर के साधारण रूपक विशेष सुन्दर हैं। विरह का भुजंग रूप अत्यन्त मार्मिक, भावव्यंजक एवं वस्तु स्थिति का द्योतक है—

बिरह भुवंगम तन बसै, मंत्र न लागै कोइ।

कबीर ने साँगरूपक अलंकारों का खूब प्रयोग किया है, किन्तु उनके साँगरूपक उतने सुन्दर नहीं बन पड़े हैं। वे साँगरूपकों का उचित निर्वाह नहीं कर पाते हैं।

जग हटवाड़ा स्वाद ठग, माया बेंसा लाइ।
राम चरन नीकाँ गही, जिनि जाइ जनम ठगाइ ।।

हाँ, प्रिय मिलन के समय सती के द्वारा उसकी सेवा का वर्णन करते हुए जो साँगरूपक का विधान किया गया है, वह कलात्मक है—

नैनों की करी कोठरी, पुतली पलँग बिछाय।
पलकों की चिक डारि कै, पिय को लिया रिझाइ ।।

कबीर ने उपमा एवं उत्प्रेक्षा में भी कोई विशेष कलात्मकता नहीं दर्शायी है। उनके अधिकतर उपमान परंपराश्रित एवं बहुप्रयुक्त हैं। कबीर की अन्योक्तियाँ अवश्य ही सुन्दर हैं और ऐसे स्थानों में उनकी कविता का सौन्दर्य झलकता है। देखिए—

माली आवत देखि करि, कलियाँ करि पुकार।
फूलि फूलि चुन लई, काल्हि हमारी बार।

यहाँ माली मृत्यु तथा कलियाँ जीवात्मा के लिए प्रयुक्त हैं। वैसे ही कबीर के दृष्टांत भी सुन्दर बन पड़े हैं और वे मर्मस्पर्शी भी हैं—

जल मैं बसै कमोदनी, चंदा बसै अकासि।
जो है जाको भावता, सो ताहि कै पास॥

कबीर के काव्य में प्रतीकात्मक वर्णन सब से अधिक मात्रा में है। इस कारण उनके यहाँ रूपकातिशयोक्ति अलंकार स्थान-स्थान पर प्रयुक्त हुआ दिखाई देता है। रूपकातिशयोक्ति अलंकार के प्रसंग में उनके प्रयुक्त उपमान उपमेय के रूप या धर्म के साम्य को प्रकट करने में सफल हुए हैं। एक उदाहरण देखिए—

काहे री नलिनी तू कुम्हिलानी।
तेरे ही नाल सरोवर पानी॥
जल मैं उत्पत्ति जल में बास।
जल मैं नलिनी तोर निवास॥

हम पहले ही बता आये हैं कि उनकी उलटबाँसियों में विरोधाभास, विभावना, विशेषोक्ति, जैसे अलंकारों का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार कबीर काव्य में लगभग सभी अलंकारों का प्रयोग हुआ है। किन्तु यह कभी नहीं समझना चाहिए कि कबीर अलंकारवादी कवि थे। कबीर ने कहीं भी अलंकारों के लिए अलंकार का प्रयोग नहीं किया, उनके सभी अलंकार भावोत्कर्ष में सहायक बन आये हैं और ये सब बिना प्रयास के स्वाभाविक रूप से बने हैं। कबीर ने कभी इन अलंकारों को सायास लाने का प्रयत्न नहीं किया।

छन्द : कबीर ने साखियाँ और पद लिखे हैं। कबीर की साखियाँ अधिकतर दोहे छंद में हैं और उनके पद घनाक्षरी कहलाते हैं। ये दोनों छन्द बहुत ही प्राचीन शैली के हैं। उनकी रमैनियों में कई चौपाइयों के बाद दोहे का प्रयोग हुआ है। सिद्धों की पद शैली नाथों से होकर सन्तों को प्राप्त हुई और इस प्रकार यह पद शैली कबीर को प्राप्त हुई। कबीर की छन्द योजना पिंगल-शास्त्र का पूर्णतया अनुसरण नहीं करती, इस लिए कहीं-कहीं मात्राओं की न्यूनता और बहुलता, यतिभंग दोष आदि मिलेंगे। फिर भी कबीर के सारे पद गेय हैं क्योंकि कबीर गायक थे। अपनी सारंगी पर इनको वे गाते फिरते

थे। इसलिए उनके तारों में जैसे मधुर लगता है वैसे मात्राओं को बढ़ाकर या कम करके वे गाते थे। इस कारण उनके पदों में मात्रा दोष आ गये हैं। कबीर विभिन्न छंदों के साथ 'टेक' का बंध लगा कर सबदी का स्वरूप खड़ा किया गया। इनमें कुछ तो लोकगीतों के पद हैं और राग रागिनियों से संबद्ध हैं। लोक गीतों में प्रायः पायी जाने वाली सहजता, सरलता एवं मनोराग इन गीतों में पाये जा सकते हैं। डॉ० सरनामसिंह जी लिखते हैं—"द्रुत प्रवाह, शब्द विन्यास की सरलता, विश्व व्यापी मर्मस्पर्शी सहज स्वाभाविक मनोराग, व्यापार का उद्वेग, आलंबन या दृश्य संबंधी स्थूल अंकन और साहित्यिक रूढ़ियों का बहिष्कार" ये सब लोकगीत की अपनी संपत्ति हैं। कबीर के इन लोकगीत परंपरा पर रचे पदों में एक अद्‌भुत सौन्दर्य, मधुरता एवं सहजता है। ये पद तानपूरे का साहित्य है। वे सरस एवं जन साधारण के निकट हैं। उनमें सरलता, सुबोधता एवं आत्मीयता के भाव भरे-पूरे हैं। देखिए—

अब मोहि ले चलि नणद के बीर, अपनैं देसा।
इन पंचनि मिलि लूटी हूँ, कुसंग आहि बदेसा॥ टेक॥
गंग तीर मोरी खेती बारी, जमुन तीर खरिहानां।
सातों बिरही मेरे नीपजै, पंचूं मोर किसानां।
कहै कबीर यहु अकथ कथा है, कहतां कही न जाई।
सहज भाइ जिहिं ऊपजै, ते रमि रहे समाई॥

कबीर के पद संगीत शास्त्र पर संभवतः पूरे नहीं उतरते और कबीर जैसे साधु गायकों से हम उसकी आशा भी नहीं रखते। वे पक्के गवैये नहीं थे, केवल गायक थे। उनमें जब अनुभूति का स्फुरण हुआ तब वे गा उठे। कबीर के इन गीतों का सही मूल्यांकन करते हुए डॉ० रामखेलावन पांडेय जी लिखते हैं—"संत कवि पक्के गवैये नहीं थे, गायक थे। जिस निम्न स्तर से वे आये थे, उसमें काल की सांस्कारिक चेतना नहीं थी। अलमस्त और फक्कड़ जीवन में जब स्फुरण हुआ, तब गा उठे। संगीतशास्त्र की शास्त्रीयता के साँचे में ढला और नपातुला गीत न था और न थी कलात्मकता की वह कसौटी जिसे साहित्य-शास्त्र प्रश्रय देता है।"[1] संतों के पदों के संबंध में सामान्य रूप से यह जो विचार प्रस्तुत है, वह कबीर के संबंध में भी चरितार्थ होता है।

---

१. मध्यकालीन संत साहित्य, पृ. २४६.